

Chapter तीन

माया से मुक्ति

इस अध्याय में महाराज निमि द्वारा पूछे गये, जिन चार प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, वे हैं—माया का स्वभाव तथा कार्य, माया के दुर्लभ्य पाश से मुक्त होने की विधि, भगवान् नारायण की दिव्य स्थिति तथा कर्म-योग की विधि, जिससे मनुष्य सारे भौतिक कार्यों से मुक्त हो जाता है।

समस्त कारणों के मूल कारण भगवान् ने पाँच तत्त्वों की सृष्टि की जिनसे बद्धजीवों के भौतिक शरीर बनते हैं, जिससे बद्धजीव चाहें तो इन्द्रिय-तृप्ति या परम मोक्ष का अनुशीलन कर सकते हैं। भगवान् परमात्मा के रूप में प्रकट होकर सृजित जीवों के भौतिक शरीरों में प्रवेश कर जाते हैं और बद्धजीव की ग्यारह इन्द्रियों को सक्रिय बनाते हैं। बद्धजीव भौतिक शरीर को ही आत्मा मान बैठता है और इस तरह वह विविध सकाम कर्मों में लग जाता है। वह अपने ही कर्मों के फलों से बाध्य होकर विविध योनियों में बारम्बार जन्म लेता है और प्रलय आने तक अत्यधिक कष्ट भोगता रहता है। जब प्रलय सन्निकट होता है, तो विराट् स्वरूप की आत्मा सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को अपने में समेट लेती है

और तब वह स्वयं समस्त कारणों के आदि-कारण में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार से भगवान् तीन गुणों वाली अपनी माया को भौतिक ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्ति प्रदान करते हैं।

इस भौतिक जगत में नर तथा नारी के रूप में बद्धजीव संभोगरत होते हैं। यद्यपि ये जीव अपने दुखों को दूर करने तथा अपने आनन्द को असीम रूप से बढ़ाने के लिए निरन्तर भौतिक प्रयास करते रहते हैं, किन्तु इससे सदैव विपरीत परिणाम प्राप्त होता रहता है।

स्थायी सुख इस जगत में ढूँढ़े नहीं मिलता, चाहे वह पृथ्वी-लोक हो या स्वर्ग-लोक हो, जिसे लोग अनुष्ठान तथा यज्ञ सम्पन्न करने के बाद अगले जीवन में प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों ही में ईर्ष्या तथा स्पर्धा जीव का पीछा नहीं छोड़ती।

इसलिए जो व्यक्ति संसार के कष्टों से स्थायी छुटकारा पाने का सचमुच इच्छुक है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह है कि वह विचार-विमर्श द्वारा वैदिक शास्त्रों के निष्कर्षों की अनुभूति कर चुका हो और इन निष्कर्षों द्वारा अन्यो को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारे भौतिक मामलों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

प्रामाणिक गुरु को ही अपना जीवन तथा आत्मा मान कर विनीत शिष्य को उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए, जो भगवान् को तुष्ट करने वाली है। इस तरह शिष्य भक्ति-मार्ग पर चलकर क्रमशः समस्त सद्गुण प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों, उनके प्राकट्य, गुणों तथा पवित्र नामों को सुने, उनका गुणगान करे और उनका ध्यान करे। उसे जो भी अच्छी लगने वाली या भोग्य वस्तु प्राप्त हो, वह भगवान् को तुरन्त अर्पित कर दे, यहाँ तक कि अपनी पत्नी, सन्तान, घर तथा अपने प्राण तक भगवान् के चरणकमलों में समर्पित कर दे। उसे अन्यो की सेवा करनी चाहिए और उनसे आदेश लेने चाहिए। विशेष रूप से जो भगवद्भक्त हैं, उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए।

भक्तों की संगति में रह कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करने से मनुष्य तुष्ट तथा सुखी हो जाता है और भक्तों से प्रेम-मैत्री स्थापित कर लेता है। इस तरह वह समस्त दुखों की कारणस्वरूप इन्द्रिय-तृप्ति को त्यागने में सक्षम हो जाता है। जब भक्त को भगवान् के शुद्ध प्रेम की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो उसे रोमांच हो आता है और वह अनेक भावलक्षण प्रकट करने लगता है। वह भगवान् से प्रत्यक्ष मिलता है और दिव्य आनन्द से पूरित हो उठता है। भक्तियोग की शिक्षा से तथा भगवद्भक्ति में लगने से, भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया अनुरक्त होने पर, भक्त दुर्लभ्य माया को पार कर लेता है।

भगवान् ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। नश्वर तथा निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक जगत में स्थित रह कर, वे नित्य तथा अपरिवर्तित रहते हैं। वे मन तथा इन्द्रियों से किसी सहायता के बिना समझे नहीं जा सकते। वे भौतिक जगत के प्राकट्य से परे हैं, जो सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं में दिखने वाले कार्य-कारण के रूप में होता है। मूलतः अपनी माया द्वारा एक से विस्तार करके वे नाना रूपों में प्रकट होते हैं। वे जन्म, विकास, क्षय तथा मृत्यु से सदैव मुक्त हैं और सर्वव्यापक साक्षी परमात्मा हैं, जो सारे जीवों की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता है। वे परम ब्रह्म हैं और नारायण कहलाते हैं।

जब कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् नारायण के चरणकमलों में भक्ति करता है, तो उसकी प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत पूर्वकर्म के फलस्वरूप हृदय के भीतर स्थित अशुद्ध इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार हृदय निर्मल हो जाने पर, वह भगवान् को तथा अपने आपको दिव्य जीवात्माओं के रूप में देख सकता है।

दिव्य वैदिक वाङ्मय के प्रामाणिक अध्ययन से ही मनुष्य नियत कर्तव्यों, इन कर्तव्यों के सम्पन्न न होने तथा वर्जित कार्यों के अर्थ को ठीक तरह से समझ सकता है। इस कठिन विषय को कभी भी संसारी चिन्तन से नहीं समझा जा सकता। वैदिक आदेश मनुष्य को पहले सकाम धार्मिक कर्म करने की संस्तुति करके अप्रत्यक्षतः चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह बच्चे को दवा खिलाने के लिए पिता उसे मिठाई देने का वचन देता है। यदि भौतिक इन्द्रियों को न जीत सकने वाला अज्ञानी व्यक्ति वैदिक आदेशों को पूरा नहीं करता, तो वह पापमय तथा अधार्मिक कर्मों में प्रवृत्त होगा। इस

तरह उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु का पुरस्कार मिलेगा। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति वेदों द्वारा नियत किये गये नियमित कर्मों को अनासक्त होकर करता है और ऐसे कर्म का फल भगवान् को अर्पित करता है, तो उसे भौतिक कर्म के बन्धन से पूरी मुक्ति मिल जाती है। शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक सकाम फल वैदिक ज्ञान के वास्तविक लक्ष्य नहीं, अपितु कर्म करने वाले में रुचि जागृत करने के लिए होते हैं। यदि बद्धजीव वैदिक ग्रंथों में, यथा तंत्रों में प्राप्य नियमों का पालन करते हुए भगवान् हरि की पूजा करता है, तो वह मिथ्या अहंकार के बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जायेगा।

जब भक्त को वैदिक शास्त्रों के आदेशों को बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, तो वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी स्वरूप की पूजा करता है। इस तरह वह भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

श्रीराजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।

मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; परस्य—परम; विष्णोः—विष्णु का; ईशस्य—भगवान्; मायिनाम्—महान् योगशक्ति से सम्पन्नों के लिए; अपि—भी; मोहिनीम्—मोहने वाली; मायाम्—माया को; वेदितुम्—जानना; इच्छामः—हम चाहते हैं; भगवन्तः—हे प्रभुओ; ब्रुवन्तु—कहें; नः—हमसे।

राजा निमि ने कहा : अब हम भगवान् विष्णु की उस माया के विषय में जानना चाहते हैं, जो बड़े बड़े योगियों को भी मोह लेती है। हे प्रभुओ, कृपा करके हमें इस विषय में बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस अध्याय में ऋषभदेव के विभिन्न साधु सदृश पुत्र माया, माया को तरने के साधनों, भगवान् के गुणों तथा मनुष्यों के लिए नियत कर्तव्यों का वर्णन करेंगे। पिछले अध्याय के ४८ वें श्लोक में कहा गया था—*विष्णोर्मायामिदम् पश्यन्*—कृष्ण-भक्त को चाहिए कि समग्र ब्रह्माण्ड को भगवान् की माया के रूप में देखे। इसलिए राजा निमि साधु योगेन्द्रों से इस विषय में अधिक विस्तार से बतलाने की प्रार्थना कर रहे हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा इत्यादि देवतागण तथा पृथ्वी के मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अपनी विशेष इच्छा के द्वारा चालित होते हैं। इस तरह वे अपनी इन्द्रियों को भौतिक ज्ञान की खोज करने में लगाते हैं। देवताओं की सूक्ष्म दैवी इन्द्रियाँ तथा मनुष्यों की स्थूल

इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रिय-विषयों का मापतोल करने में लगी रहती हैं। राजा निमि नौ योगेन्द्रों में से अब श्री अन्तरीक्ष से उस माया के वास्तविक स्वभाव के विषय में पूरी तरह जानना चाहते हैं, जो बद्धजीव को कृष्णभावनामृत से विमुख कराकर, मोहने वाली भौतिक वस्तुओं के सामने घुटने टेकने के लिए बाध्य करती है।

नानुतृष्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न अनुतृष्ये—मैं फिर भी तृप्त नहीं हूँ; जुषन्—व्यस्त रहते हुए; युष्मत्—तुम्हारे; वचः—शब्दों में; हरि-कथा—भगवान् हरि की कथाओं के; अमृतम्—अमृत को; संसार—संसार के; ताप—कष्ट से; निस्तप्तः—सताया; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; तत्-ताप—उस पीड़ा की; भेषजम्—औषधि।

यद्यपि मैं आपके द्वारा कही जा रही भगवान् की महिमा का अमृत-आस्वाद कर रहा हूँ, फिर भी मेरी प्यास शान्त नहीं हुई। भगवान् तथा उनके भक्तों की ऐसी अमृतमयी कथाएँ संसार के तीन तापों से सताये जा रहे, मुझ जैसे बद्धजीवों के लिए औषधि का काम करने वाली हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह तर्क किया जा सकता है कि चूँकि भगवद्भक्त के लक्षणों का पहले ही विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, अतएव पिछले श्लोक में वर्णित पद को प्राप्त करके मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है, तो फिर आगे प्रश्न करने की क्या आवश्यकता है? लेकिन हरिकथामृतम्—अर्थात् भगवान् तथा उनके भक्तों की कथाएँ इतनी मनोहर तथा सुन्दर हैं कि मोक्ष के बाद भी कोई उनका सुनना छोड़ नहीं सकता। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुकं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ॥

“जो आत्माराम हैं और बाह्य भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट नहीं होते वे भी उन श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति द्वारा आकृष्ट होते हैं, जिनके गुण दिव्य तथा कार्यकलाप अद्भुत हैं। भगवान् हरि को कृष्ण कहते हैं, क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग दिव्य रूप से आकर्षक हैं।” (भागवत १.७.१०) यदि एक बार रोग अच्छा हो जाता है, तो फिर औषधि की आवश्यकता नहीं रह जाती, लेकिन परम पद पर कार्य

तथा कारण भिन्न नहीं होते। अतएव कृष्ण की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य आनन्द के कार्य-कारण हैं।

राजा निमि ने योगियों से कहा, “आप लोग भगवत्प्रेम में लीन रहने वाले महान् साधु-पुरुष हैं। आप यद्यपि माया के बारे में कह रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ कृष्णभावनामृत होगा। आप यह न सोचें कि आपने मुझे पहले ही सारी बातें बतला दी हैं। आपके उपदेशों के मादक अमृत ने मुझे भगवान् के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए उत्सुक बना दिया है।”

राजा निमि भी महान् भगवद्भक्त थे, अन्यथा नौ योगेन्द्रों जैसे महापुरुषों से बातचीत करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु विनीत वैष्णव के रूप में, उन्होंने अपने को भौतिक उपाधियों से प्रच्छन्न एक सामान्य बद्धजीव समझा। इस तरह उन्होंने माया का वास्तविक स्वभाव जानने के लिए उत्सुकता प्रकट की, जिससे वे माया द्वारा भव-अग्नि में गिराने के भावी प्रयासों से बचे रहे सकें।

श्रीअन्तरीक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-अन्तरीक्षः उवाच—श्री अन्तरीक्ष ने कहा; एभिः—इनके (भौतिक तत्त्वों के) द्वारा; भूतानि—प्राणी; भूत-आत्मा—सारी सृष्टि की आत्मा; महा-भूतैः—महत् तत्त्व के तत्त्वों द्वारा; महा-भुज—हे महाबाहु राजा; ससर्ज—उसने उत्पन्न किया; उच्च-अवचानि—ऊँच तथा नीच दोनों; आद्यः—आदि पुरुष; स्व—अपने अंशों के; मात्रा—इन्द्रिय-तृप्ति; आत्म—तथा आत्म-साक्षात्कार; प्रसिद्धये—सुविधा प्रदान करने के लिए।

श्री अन्तरीक्ष ने कहा : हे महाबाहु राजा, भौतिक तत्त्वों को क्रियाशील बनाकर समस्त सृष्टि के आदि आत्मा ने उच्चतर तथा निम्नतर योनियों के जीवों को उत्पन्न किया है, जिससे ये बद्धात्माएँ अपनी अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय-तृप्ति अथवा चरम मोक्ष का अनुशीलन कर सकें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में माया का वर्णन उसकी शक्तियों अर्थात् गुणों के वर्णन के माध्यम से हुआ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने माया को *गुणमयी* अर्थात् “भौतिक गुणों से युक्त” कहा है। इस श्लोक में भौतिक गुणों को प्रच्छन्न रूप से *उच्चवचानि* अर्थात् “उच्च तथा निम्न योनियाँ” बतलाया गया है। जिस तरह विविध योनियाँ प्रकट होती हैं, उसी तरह उनमें सुन्दरता, कुरूपता, शक्तिमत्ता, दुर्बलता इत्यादि गुण उनमें प्रकृति के गुणों के समानुपात के अनुसार पाये जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.२२) में पुष्टि की गई है—*कारणं गुण सङ्गोऽस्य*

सदसद्योनिजन्मसु—अच्छी तथा बुरी योनियों में भौतिक प्रकृति के साथ जीव की संगति से ऐसा होता है। इसी तरह का अन्य कथन (भगवद्गीता १४.१८) देखें—

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था

मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था

अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

“सतोगुणी व्यक्ति क्रमशः उच्च लोकों में जाते हैं, रजोगुणी इसी पृथ्वी-लोक में रहते हैं और जो तमोगुण में स्थित हैं, वे नीचे नरक-लोकों में जाते हैं।”

भौतिक जीवन के तीन सामान्य विभाग हैं— देव, तिर्यक तथा नर। विविध योनियों में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की विविध सुविधाएँ हैं। विभिन्न योनियाँ विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों द्वारा—यथा जननांग, नथुने, जीभ, कान तथा आँखों द्वारा जानी जाती हैं। उदाहरणार्थ, कबूतरों को असीम संभोग की छूट दी गई है। भालुओं को सोने की बहुत अधिक छूट है। बाघों तथा सिंहों में लड़ने-भिड़ने एवं मांस खाने की प्रबल इच्छा रहती है, घोड़ों को तेज दौड़ने के लिए टाँगें और चील्हों-गिद्धों को तेज दृष्टि प्रदान की गई है, इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य अपने बृहद मस्तिष्क द्वारा जाना जाता है, जो ईश्वर को समझने के निमित्त होता है।

इस श्लोक में स्वमात्रात्मप्रसिद्धये वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है। स्व का अर्थ है स्वामित्व। सारे जीव भगवान् के हैं (ममैवांशो जीवलोके जीवभूताः सनातनाः)। इसलिए इस श्लोक के अनुसार उनके पास दो विकल्प होते हैं— मात्राप्रसिद्धये तथा आत्मप्रसिद्धये।

मात्रा का अर्थ है भौतिक इन्द्रियाँ और प्रसिद्धये द्योतक है सम्पन्न होने का। अतः मात्राप्रसिद्धये का अर्थ हुआ “इन्द्रिय-तृप्ति में दक्षतापूर्वक लगे रहना।”

दूसरी ओर आत्मप्रसिद्धये द्योतक है कृष्णभावनामृत का। आत्मा की दो कोटियाँ हैं— जीवात्मा जो कि आश्रित है और परमात्मा जो कि स्वतंत्र है। कुछ जीव दोनों ही प्रकार की आत्माओं को समझना चाहते हैं, अतएव इस श्लोक में आत्मप्रसिद्धये शब्द सूचित करता है कि उन जीवों को ऐसा ज्ञान प्रदान

करने के लिए तथा इस प्रकार भगवद्धाम, जहाँ जीवन शाश्वत है और आनन्द तथा ज्ञान से भरपूर है, वापस जाने के लिए इस जगत में अवसर प्रदान किया जाता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के *वेदश्रुति* से (१०.८७.२) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करके पुष्टि की है—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।

मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥

“भगवान् ने जीवों में बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण उत्पन्न किए, जिससे वे इन्द्रिय-तृप्ति कर सकें, उच्चतर जन्म पाने के लिए यज्ञ कर सकें और अन्ततोगत्वा परमात्मा के लिए यज्ञ कर सकें।”

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् की सृष्टि का वास्तविक प्रयोजन केवल एक है—भगवान् की भक्ति को अग्रसर कराने के लिए सुविधा प्रदान करना। यद्यपि यह कहा गया है कि भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति सुलभ बनाते हैं, किन्तु यह समझना होगा कि भगवान् बद्धजीवों की मूर्खता को अन्ततः कभी क्षमा नहीं करते। भगवान् इन्द्रिय-तृप्ति को सुलभ इसलिए बनाते हैं (*मात्राप्रसिद्धये*), जिससे जीवों को धीरे-धीरे ज्ञान हो जाय कि भगवान् के बिना भोग करना व्यर्थ है। हर जीव कृष्ण का जीवांश है। वैदिक वाङ्मय में भगवान् ने एक विधान दिया है, जिससे सारे जीव धीरे-धीरे अपनी मूर्खता की प्रवृत्ति को समाप्त कर लें और उनकी शरण में जाने के महत्त्व को समझें। भगवान् निस्सन्देह समस्त सौन्दर्य, आनन्द तथा संतोष के आगार हैं और हर जीव का धर्म है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत हो। यद्यपि ऊपर से सृष्टि के दो प्रयोजन लगते हैं, किन्तु यह समझ लेना होगा कि अन्ततः प्रयोजन केवल एक है। इन्द्रिय-तृप्ति की व्यवस्था अन्ततः जीवों को भगवद्धाम वापस ले जाने के एकमात्र प्रयोजन के लिए है।

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।

एकधा दशधात्मानं विभजन्जुषते गुणान् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—जैसाकि बतलाया गया, उस प्रकार से; सृष्टानि—उत्पन्न; भूतानि—जीवों को; प्रविष्टः—प्रवेश करके; पञ्च-धातुभिः—पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) द्वारा; एकधा—एक बार (मन के द्रष्टा रूप में); दशधा—दस बार (पाँच ज्ञान-इन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के द्रष्टा के रूप में); आत्मानम्—स्वयं को; विभजन्—विभाजित करते हुए; जुषते—लगाता है; गुणान्—भौतिक गुणों के साथ।

परमात्मा उत्पन्न किये गये प्राणियों के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होकर मन तथा इन्द्रियों को क्रियाशील बनाता है और इस तरह बद्धजीवों को इन्द्रिय-तृप्ति हेतु तीन गुणों तक पहुँचाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक पर श्री भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका का सारांश इस प्रकार है—

एक परमात्मा स्थूल भौतिक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) में प्रवेश करता है और भौतिक मन को क्रियाशील बनाकर बद्धजीवों के ऐन्द्रिय कर्मों को पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँखों, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा) में सूक्ष्मतः विभाजित कर देता है और इसके बाद पाँच स्थूल कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी, जननांग तथा गुदा) में विभाजित कर देता है। चूँकि मुक्तात्माओं में भगवान् की सेवा करने की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव वे अच्छाई-बुराई के द्वैत के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे उन भगवान् की भक्ति तथा प्रेम से अपना आनन्द प्राप्त करते हैं, जो भौतिक सृष्टि से परे अपनी दिव्य लीलाओं का नित्य आस्वादन करते रहते हैं।

जब बद्धजीव भगवान् के साथ अपने प्रेमपूर्ण सम्बन्ध को भूल जाते हैं, तो उनमें अवैध इच्छाएँ जागृत होती हैं। अतएव वे भगवान् विष्णु के रूप, स्वाद, गंध इत्यादि पक्षों की सेवा न कर सकने के कारण सकाम कर्म के कटु फलों से बँध जाते हैं। किन्तु यदि किसी तरह से उनका भगवत्प्रेम जागृत हो उठता है, तो बद्धजीव अपने सारे ऐन्द्रिय कर्मों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की सेवा में लगा देते हैं।

वस्तुतः सारे भौतिक कार्यकलाप अत्यन्त अवांछनीय हैं। किन्तु माया के प्रभाव से बद्धजीव अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख में अन्तर देखने लगता है। भगवान् या परमात्मा जीवों की व्यष्टि तथा समष्टि चेतना में प्रवेश कर चुकने के फलस्वरूप हर एक के हृदय की बात जानते हैं। अतएव जब निष्ठावान जीव आध्यात्मिक सिद्धि की कामना करता है, तो भगवान् उसे भव-बन्धन से मुक्त करके वैकुण्ठ-पति की सेवा करने की उसकी उत्कट इच्छा को जागृत कर देते हैं। यह भगवत्प्रेम दिव्य आनन्द के विविध रूपों में पल्लवित होता है। किन्तु अज्ञानवश बद्धजीव अपने को सेवा का सही लक्ष्य मानता है और सम्पूर्ण सांसारिक स्थिति को ठीक से नहीं समझ पाता।

गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गुणैः—गुणों (इन्द्रियों) के द्वारा; गुणान्—गुणों को (इन्द्रिय-विषयों को); सः—वह (व्यष्टि); भुञ्जानः—भोग करते हुए; आत्म—परमात्मा द्वारा; प्रद्योतितैः—जागृत किया गया; प्रभुः—स्वामी; मन्यमानः—सोचते हुए; इदम्—यह; सृष्टम्—उत्पन्न (शरीर); आत्मानम्—अपने रूप में; इह—इस; सज्जते—फँस जाता है।

भौतिक देह का स्वामी व्यष्टि जीव परमात्मा द्वारा सक्रिय की गई अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बनाये गये इन्द्रिय-विषयों का भोग करने का प्रयास करता है। इस तरह वह उत्पन्न भौतिक शरीर को अजन्मे नित्य आत्मा के रूप में मानने के कारण भगवान् की माया में फँस जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जीव को प्रभुः अर्थात् स्वामी कहा गया है, क्योंकि वह परम स्वामी कृष्ण का सूक्ष्म अंश होता है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता (१५.८) में जीव को ईश्वरः अर्थात् नियन्ता कहा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धान् इवाशयात् ॥

“जीव इस भौतिक जगत में जीवन की विविध धारणाओं को एक शरीर से दूसरे में वहन करता है, जिस प्रकार वायु गंध को ले जाती है।” श्रील प्रभुपाद ने इसके तात्पर्य में लिखा है, “यहाँ पर जीव को ईश्वरः अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्च योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्न योनि में जा सकता है। इस विषय में उसे किंचित स्वतंत्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उसी पर निर्भर करता है।” यह कथन इस अध्याय के श्लोक ३ के स्वमात्रा तथा आत्मप्रसिद्धये शब्दों की पुष्टि करता है। यदि भगवान् जीव की अल्प स्वतंत्रता में बाधक बनें तो जीव भगवान् की भक्ति में लगे ही क्यों? क्योंकि प्रेम में प्रेमी की मुक्त पसन्द निहित रहती है। यहाँ पर प्रभुः शब्द सूचित करता है कि जिस तरह एक बच्चा अपने पिता से खिलौना-गाड़ी पाकर अपने पिता द्वारा असली मोटर-कार चलाने का अनुकरण करते हुए फुटपाथ पर अपनी गाड़ी चलाता है, उसी तरह जीव परमेश्वर द्वारा चुनी गई ८४,००,००० योनियों में विश्व-भर में असंख्य शरीर धारण करके भटकता रहता है। इस तरह जीव भौतिक शरीर के मिथ्या अहंकार द्वारा मुग्ध होकर ऐसी भयावह स्थिति उत्पन्न कर लेता है, जिसमें वह बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्कर लगाता है जैसाकि भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात् (भागवत ११.२.३७) में कहा गया है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या दूसरी तरह से की है। यदि प्रभुः शब्द का अर्थ भगवान् लिया जाय तो गुणै का अर्थ “सद्गुण” लगाना पड़ेगा, क्योंकि गुण से या तो प्रकृति के गुण या प्रशंसनीय गुण (जैसाकि श्लोक यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः में है) का द्योतन होता है। तब इस श्लोक का अर्थ होगा कि भगवान् अपने दिव्य गुणों से (गुणै), यथा दया से, अपने भक्तों के गुणों का (गुणान्) आस्वादन कर सकते हैं। तब आत्मप्रद्योतितै यह बतलायेगा कि समस्त सद्गुणों के आगार भगवान् की शरण में जाकर शुद्ध भक्तों में उन्हीं जैसे दैवी गुण आ जाते हैं। मन्यमान इदं सृष्टम् आत्मानम् यह सूचित करेगा कि भगवान् अपने भक्तों के शरीर को अपने ही जैसे आध्यात्मिक स्तर पर मानते हैं, जैसाकि आचार्य मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित् पंक्ति से सूचित होता है। भगवान् अपने शुद्ध भक्त की प्रेमाभक्ति से आकृष्ट होते हैं और इस प्रकार उसके प्रेमपाश में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद जब कृष्ण अपनी नगरी द्वारका के लिए विदा हो रहे थे, तो महाराज युधिष्ठिर की प्रेमपूर्ण याचना से भगवान् को हस्तिनापुर में कई सप्ताहों तक रुक जाना पड़ा था। इसी तरह जब वृन्दावन की वृद्धा गोपिकाएँ ताली बजातीं, तो कृष्ण कठपुतली की तरह उनकी ताल पर नाचने लगते थे। इस विषय से सम्बन्धित श्रील जीव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत से (९.४.६८) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

“शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है और मैं शुद्ध भक्त के हृदय में रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार प्रभुः शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। प्र सूचक है प्रकर्षेण अर्थात् “अत्यधिक” और भू सूचक है भवति अर्थात् “जन्म लेना” का। इस प्रकार प्रभुः सूचक है प्रकर्षेण देवतिर्यगादिषु भवतीति सः अर्थात् बारम्बार देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा अन्य योनियों में जन्म लेना।

शुद्ध भक्त के आध्यात्मिक शरीर के प्रति भगवान् की अनुरक्ति के सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी के कथन की पुष्टि करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *चैतन्य-चरितामृत* के दो श्लोक (अन्त्य ४.१९२-१३) उद्धृत किये हैं—

दीक्षाकाले भक्त करे आत्म-समर्पण ।

सेइ-काले कृष्ण तारे करे आत्म-सम ॥१२

सेइ देह करे तार चिदानन्द-मय ।

अप्राकृत-देहे ताड़ चरण भजय ॥१३

“दीक्षा के समय जब भक्त भगवान् की सेवा में अपने को समर्पित करता है, तो कृष्ण उसे अपने ही समान स्वीकार करते हैं। जब इस तरह भक्त का शरीर चिदानन्दमय हो जाता है, तो भक्त उस दिव्य शरीर में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है।”

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—विविध प्रकार के सकाम कर्मों को; कर्मभिः—कर्मिन्द्रियों द्वारा; कुर्वन्—करते हुए; स-निमित्तानि—प्रेरक इच्छाओं से युक्त; देह-भृत्—भौतिक शरीर का स्वामी; तत् तत्—विविध; कर्म-फलम्—कर्म के फलों को; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; भ्रमति—घूमता है; इह—इस संसार में; सुख—सुख; इतरम्—तथा अन्यथा।

तीव्र भौतिक इच्छाओं से प्रेरित देहधारी जीव अपनी कर्मिन्द्रियों को सकाम कर्म में लगाता है। तब वह इस जगत में घूमते हुए तथाकथित सुख-दुख में अपने भौतिक कर्मों के फलों का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अधीन रहे, तो उसे स्वतंत्र इच्छा के लिए अवकाश ही कहाँ रहा? एक बार पापकर्म कर लेने के बाद जीव दुख की अनन्त शृंखला में बँध जायेगा और निरन्तर पूर्व कर्मफलों के अधीन रहेगा। इस विचार के अनुसार ईश्वर न्यायप्रिय तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अपने पूर्वकर्मों के फलों के अनुसार, जो इससे भी पूर्वकर्मों के फल होते हैं, पापकर्म करने के लिए बाध्य होता है। चूँकि सामान्य भद्र व्यक्ति भी निर्दोष व्यक्ति को अकारण दण्ड नहीं देगा, तो फिर ईश्वर इस तरह का कैसे हो सकता है, जो इस जगत में बद्धजीवों को असहाय दुख भोगते देख सके?

इस मूर्खतापूर्ण तर्क का खण्डन एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। यदि मैं हवाई उड़ान के लिए टिकट खरीद लूँ और जहाज में चढ़ कर यात्रा शुरू कर दूँ, तो जहाज में मेरी यात्रा करने के निश्चय के अनुसार मुझे तब तक यात्रा करनी होगी, जब तक जहाज नीचे न उतरे। यद्यपि मुझे अपने इस निर्णय के परिणाम को स्वीकार करना ही होगा, किन्तु जहाज में चढ़े चढ़े मैं कई नये निर्णय कर सकता हूँ। मैं चाहूँ तो हवाई जहाज की परिचारिका द्वारा प्रदत्त भोजन तथा पेय स्वीकार करूँ या अस्वीकार कर दूँ, मैं पत्रिका या अखबार पढ़ूँ, सोऊँ, टहलूँ, यात्रियों से बातें करूँ इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जहाज में चढ़ने के पूर्व निर्णय के अनुसार किसी विशेष नगर तक यात्रा करते रहना मुझ पर थोपा हुआ है, किन्तु इस परिस्थिति के अन्तर्गत भी मैं नये नये निर्णय ले सकता हूँ, जिनके नये नये परिणाम हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मैं हवाई जहाज में उत्पात मचा दूँ तो जहाज उतरने पर मुझे बन्दी बनाया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि मैं अपनी बगल में बैठे किसी व्यापारी से मित्रता कर लूँ, तो भविष्य में मुझे व्यापारिक आदान-प्रदान में लाभ हो सकता है।

इसी तरह कर्म के नियमों के अनुसार यद्यपि जीव को बाध्य होकर एक विशिष्ट शरीर ग्रहण करना होता है, किन्तु मानव जीवन में सदा ही स्वतंत्र इच्छा तथा निर्णय लेने की गुँजाईश रहती है। भगवान् को इसलिए अन्यायी नहीं कहा जा सकता कि वे जीव को अपने वर्तमान कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं, यद्यपि जीव अपने पूर्वकर्म का फल भोग रहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार माया का प्रभाव इतना प्रबल है कि नरक में रहते हुए भी गर्वित बद्धजीव यही सोचता है कि वह जीवन का आनन्द लूट रहा है।

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।

आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; कर्म-गतीः—विगत कर्मों द्वारा निर्धारित गन्तव्य; गच्छन्—प्राप्त करते हुए; बहु-अभद्र—अत्यन्त अशुभ; वहाः—सम्मिलित करने वाले; पुमान्—जीव को; आभूत-सम्प्लवात्—इस ब्रह्माण्ड के प्रलय होने तक; सर्ग-प्रलयौ—जन्म तथा मृत्यु; अश्नुते—अनुभव करता है; अवशः—असहाय होकर।

इस तरह बद्धजीव को बारम्बार जन्म-मृत्यु अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाता है। अपने ही कर्मों के फल से प्रेरित होकर, वह एक अशुभ अवस्था से दूसरी अवस्था में असहाय होकर घूमता रहता है और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय होने तक कष्ट भोगता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार यह सुन लेने पर भी कि इस जगत में जीव को बारम्बार जन्म लेना और मरना होता है, यदि कोई व्यक्ति ऐसे असहाय जीव को सभी बातों में ईश्वर के तुल्य मानता है, तो वह निश्चय ही ब्रह्माण्ड के गहनतम अंधकार में गिरेगा, जहाँ से उसका निकल पाना कठिन है।

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धातु—भौतिक तत्त्वों के; उपप्लवे—संहार में; आसन्ने—सन्निकट आये हुए; व्यक्तम्—व्यक्त जगत; द्रव्य—स्थूल पदार्थ; गुण—तथा सूक्ष्म गुण; आत्मकम्—से युक्त; अनादि—जिसका आदि न हो; निधनः—अथवा अन्त; कालः—समय; हि—निस्सन्देह; अव्यक्ताय—अव्यक्त में; अपकर्षति—खींचता है।

जब भौतिक तत्त्वों का संहार सन्निकट होता है, तो काल रूप में भगवान् स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों वाले व्यक्त जगत को समेट लेते हैं और सारा ब्रह्माण्ड अव्यक्त रूप में लुप्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिलदेव शिक्षा देते हैं कि प्रकृति मूलतः जड़ साम्यावस्था में रहती है, जिसे प्रधान कहते हैं। जब काल रूप में भगवान् विष्णु अपनी शक्तिशाली दृष्टि डालते हैं, तो भौतिक क्रियाएँ घटित होती हैं, जिनके फलस्वरूप विराट भौतिक जगत बनता है। इस श्लोक में कहा गया है कि विश्वकाल के अन्त में वही काल जिसने नारी प्रकृति को व्यक्त होने के लिए प्रेरित किया था, अब इस विश्व को जड़ अव्यक्त की मूल अवस्था में समेट लेता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार तब स्वयंकाल भी समेट लिया जाता है और वह परमात्मा में लीन हो जाता है, जो स्वयं को प्रकृति के मूल कारण के रूप में प्रकट करता है (अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्)।

सृष्टि तथा प्रलय, जन्म तथा मृत्यु के लिए ऐसी पारिभाषिक व्यवस्थाएँ भगवद्भ्राम में नहीं मिलतीं। वैकुण्ठ में भगवान् तथा उनके भक्तों का विविध आध्यात्मिक भोग इस भौतिक जगत में प्राप्य जन्म, पालन तथा विनाश के चक्र से अवरोधित नहीं होता।

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णाको लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शत-वर्षा—एक सौ वर्षों तक चलने वाला; हि—निस्सन्देह; अनावृष्टिः—सूखा, अकाल; भविष्यति—होगा; उल्बणा—भयंकर; भुवि—पृथ्वी पर; तत्-काल—उस अवधि में; उपचित—संचित; उष्ण—गर्म; अर्कः—सूर्य; लोकान्—जगत्‌को; त्रीन्—तीनों; प्रतपिष्यति—बुरी तरह जला देगा।

ज्यों ज्यों विश्व का संहार निकट आता जाता है, पृथ्वी पर एक सौ वर्षों का भयंकर सूखा पड़ता है। सूर्य की गर्मी (उष्णता) क्रमशः सौ वर्षों तक बढ़ती जाती है और इसकी प्रज्वलित गर्मी तीनों लोकों को व्यग्र करने लगती है।

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।

दहनूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पाताल-तलम्—पाताल लोक से; आरभ्य—आरम्भ करके; सङ्कर्षण-मुख—भगवान् के संकर्षण रूप के मुख से; अनलः—अग्नि; दहन—जलाते हुए; ऊर्ध्व-शिखः—ऊपर को निकलती लपटें; विष्वक्—सारी दिशाएँ; वर्धते—बढ़ती है; वायुना—वायु से; ईरितः—प्रेरित होकर।

यह अग्नि, भगवान् संकर्षण के मुख से निकल कर पाताल लोक से शुरू होती हुई, बढ़ती जाती है। इसकी लपटें प्रबल वायु से प्रेरित होकर ऊपर उठने लगती हैं और यह चारों दिशाओं की हर वस्तु को झुलसा देती हैं।

संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।

धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

संवर्तकः—प्रलय के; मेघ-गणः—बादलों का समूह; वर्षति—वर्षा करता है; स्म—निस्सन्देह; शतम् समाः—एक सौ वर्षों तक; धाराभिः—मूसलाधार; हस्ति-हस्ताभिः—हाथी की सूँड़ की माप वाली (बूँदें); लीयते—लीन हो जायेगा; सलिले—जल में; विराट्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड।

संवर्तक नामक बादलों के समूह एक सौ वर्षों तक मूसलाधार वर्षा करते हैं। हाथी की सूँड़ जितनी लम्बी पानी की बूँदों की बाढ़ से विनाशकारी वर्षा समस्त ब्रह्माण्ड को जल में डुबो देती है।

ततो विराजमुत्सृज्यैराजः पुरुषो नृप ।

अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; विराजम्—ब्रह्माण्ड; उत्सृज्य—(अपने शरीर के रूप में) त्याग कर; वैराजः पुरुषः—विराट रूप वाला व्यक्ति (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा); नृप—हे राजा निमि; अव्यक्तम्—अव्यक्त प्रकृति (प्रधान) में; विशते—प्रवेश करता है; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; निरिन्धनः—ईंधन से रहित; इव—सदृश; अनलः—अग्नि ।

हे राजन्, तब विराट रूप का आत्मा वैराज ब्रह्मा अपने विराट शरीर को त्याग देता है और सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति में उसी तरह प्रवेश कर जाता है, जिस तरह ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि ।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में वैराजः शब्द बद्धजीवों की सम्पूर्णता को सूचित करता है, जो मूलतः ब्रह्मा से जन्म लेते हैं और प्रलय के समय उसी में मिल जाते हैं । विराट पुरुष के प्रकट होने से इस भौतिक सृष्टि में कुछ काल के लिए रूपों, गुणों तथा कर्मों का प्रदर्शन होता है । किन्तु जब भगवान् इस सृष्टि को समेटते हैं, तो सारा विराट दृश्य जड़ रूपविहीनता में बदल जाता है । इसलिए भगवान् के विराट रूप को भगवान् का शाश्वत रूप नहीं माना जा सकता । माया के राज्य में यह तो उनके साकार रूप से क्षणिक काल्पनिक साम्य है । श्रीमद्भागवत के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों में भगवान् के विराट रूप को काल्पनिक बतलाया गया है, जो ईश्वर का ध्यान करने वाले नवदीक्षितों के लिए है । जो लोग निपट भौतिकतावादी हैं, वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् सच्चिदानन्दविग्रह हैं और भौतिक शक्ति के प्रदर्शन के परे हैं । अतएव ऐसे निपट भौतिकतावादियों को श्रद्धालु आस्तिक बनाने के लिए ही वैदिक वाङ्मय उन्हें परमेश्वर के विराट शरीर के रूप में इस भौतिक ब्रह्माण्ड का ध्यान करने का आदेश देता है । यह सर्वेश्वरवाद परमेश्वर की चरम सत्यता को नहीं बतलाता, अपितु यह मन को धीरे धीरे ईश्वर की ओर ले जाने की प्रविधि है ।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इसके साक्ष्य के लिए कि प्रलय के समय ब्रह्मा को भगवद्धाम वापस चले जाना होता है निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

“अन्तिम प्रलय के समय सारे स्वरूपसिद्ध जीवात्माएँ ब्रह्मा के साथ साथ परम धाम में प्रवेश करते हैं ।” चूँकि ब्रह्मा को कभी कभी परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ भक्त माना जाता है, अतएव उन्हें अव्यक्त (भौतिक प्रकृति की अव्यक्त अवस्था) में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए, अपितु मोक्ष प्राप्त करना चाहिए । इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि अभक्तों की एक श्रेणी ऐसी है, जो अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य यज्ञ कर लेने पर ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होते हैं । किन्हीं किन्हीं स्थितियों में

तो स्वयं ब्रह्मा भी भगवान् के भक्त नहीं होते। अतः *अव्यक्तं विशते सूक्ष्मम्* शब्दों से यह सूचित हो सकता है कि ऐसा अभक्त ब्रह्मा विराट पद प्राप्त कर लेने पर भी वैकुण्ठ में प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु जब ब्रह्मा भगवद्भक्त के रूप में होता है, तो *अव्यक्तम्* शब्द से वैकुण्ठ सूचित होता है। चूँकि बद्धजीवों को वैकुण्ठ व्यक्त नहीं है, अतएव इसे *अव्यक्त* माना जा सकता है। यदि ब्रह्मा तक भगवान् के शरणागत हुए बिना भगवद्धाम में प्रवेश नहीं कर सकते, तो अन्य तथाकथित पवित्र या पटु अभक्तों के विषय में क्या कहा जा सकता है ?

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि ब्रह्मा पद की तीन कोटियाँ हैं—कर्मी, ज्ञानी तथा भक्त। ब्रह्मा, जो कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च *कर्मी* हैं, उन्हें भौतिक जगत में वापस आना होगा, जिस जीव ने इस ब्रह्माण्ड में महान् चिन्तक एवं दार्शनिक के रूप में ब्रह्मा का पद प्राप्त किया है, वह निर्विशेष मोक्ष पा सकता है, किन्तु जिस जीव को भगवान् का परम भक्त होने के कारण ब्रह्मा का पद मिला है, वह भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३२.१५) में एक अन्य प्रसंग भी वर्णित है : वह ब्रह्मा जो भगवद्भक्त होते हुए भी अपने को भगवान् से स्वतंत्र या भगवान् के तुल्य मानने की प्रवृत्ति रखता है प्रलय के समय महाविष्णु का धाम प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब पुनः सृष्टि का शुभारम्भ होता है, तो उसे फिर से ब्रह्मा का पद सँभालना होता है। इसके लिए *भेददृष्ट्या* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो अपने को स्वतंत्र रूप से शक्तिशाली सोचने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। ब्रह्मा जैसे उच्च जीव के लिए सम्भव विविध गंतव्य यह सिद्ध करते हैं कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन की गारंटी देने के लिए कोई भी भौतिक पद व्यर्थ है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो व्यक्ति अन्य सारे तथाकथित कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की भक्ति में समर्पित हो जाता है, भगवान् उसकी स्वयं रक्षा करते हैं और उसे वैकुण्ठ धाम ले जाते हैं। अतः अपने कठोर परिश्रम द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना और कृष्ण के चरणकमलों की शरण में न जाना व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण है। *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में ऐसे व्यर्थ प्रयास को *बहुलायासम्* कहा गया है, जो रजोगुणी कर्म का सूचक है। ब्रह्मा रजोगुण के स्वामी हैं और उनके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा व्यवस्था निश्चय ही *बहुलायासम्* या कठोर श्रम है। किन्तु ऐसा सारा रजोगुणी कर्म, यहाँ तक कि ब्रह्मा का भी कर्म, अन्ततोगत्वा कृष्ण के चरणकमलों की शरण में गये बिना व्यर्थ है।

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ठायोपकल्पते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

वायुना—वायु द्वारा; हृत—विहीन; गन्धा—गन्ध का; भूः—पृथ्वी तत्त्व; सलिलत्वाय कल्पते—जल बन जाता है; सलिलम्—जल को; तत्—उससे (वायु से); हृत-रसम्—आस्वाद गुण से रहित; ज्योतिष्ठाय उपकल्पते—अग्नि बन जाता है।

वायु द्वारा गन्ध-गुण से रहित होकर पृथ्वी तत्त्व जल में रूपान्तरित हो जाता है और उसी वायु से जल अपना स्वाद खोकर अग्नि में विलीन हो जाता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में भौतिक सृष्टि विषयक अनेक विवरण प्राप्त हैं, जिसमें वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से तथा पृथ्वी जल से विस्तार पाती है। इसके विपरीत क्रम में सृष्टि समेट ली जाती है। इस तरह पृथ्वी उस जल में विलीन हो जाती है, जिससे वह उत्पन्न होती है और जल अग्नि में विलीन हो जाता है।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ।
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

हृत-रूपम्—रूप के गुण से विहीन; तु—निश्चय ही; तमसा—अंधकार से; वायौ—वायु में; ज्योतिः—अग्नि; प्रलीयते—विलीन हो जाती है; हृत-स्पर्शः—स्पर्श से रहित; अवकाशेन—अवकाश तत्त्व द्वारा; वायुः—वायु; नभसि—आकाश में; लीयते—विलीन हो जाता है; काल-आत्मन—काल रूप में परमात्मा द्वारा; हृत-गुणम्—अपने शब्द गुण से विहीन; नभः—आकाश; आत्मनि—तमोगुणी मिथ्या अहंकार में; लीयते—लीन हो जाता है।

अग्नि अंधकार द्वारा अपने रूप से विहीन होकर वायु तत्त्व में मिल जाती है। जब वायु अन्तराल के प्रभाव से अपना स्पर्श-गुण खो देता है, तो वह आकाश में मिल जाता है। जब आकाश काल रूप परमात्मा द्वारा अपने शब्द-गुण से विहीन कर दिया जाता है, तो वह तमोगुणी मिथ्या अहंकार में विलीन हो जाता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; सह वैकारिकैः—देवताओं समेत, जो सतोगुण में अहंकार के प्रतिफल हैं; नृप—हे राजा; प्रविशन्ति—प्रवेश करते हैं; हि—निस्सन्देह; अहङ्कारम्—अहंकार तत्त्व; स्त-गुणैः—अपने गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के साथ; अहम्—अहंकार; आत्मनि—महत तत्त्व में।

हे राजन्, भौतिक इन्द्रियाँ तथा बुद्धि रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं, जहाँ से उनका उदय हुआ था। देवताओं के साथ साथ मन सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण मिथ्या अहंकार अपने सारे गुणों समेत महत्-तत्त्व में लीन हो जाता है।

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।

त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; माया—भौतिक शक्ति; भगवतः—भगवान् की; सर्ग—सृजन; स्थिति—पालन-पोषण; अन्त—तथा (इस ब्रह्माण्ड के) प्रलय के; कारिणी—करने वाली; त्रि-वर्णा—तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) वाली; वर्णिता—वर्णन की गई; अस्माभिः—हमारे द्वारा; किम्—क्या; भूयः—इसके आगे; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छसि—चाहते हो।

मैं अभी भगवान् की मोहिनी-शक्ति माया का वर्णन कर चुका हूँ। यह तीन गुणों वाली माया भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के लिए शक्तिप्रदत्त है। अब तुम और क्या सुनने के इच्छुक हो ?

तात्पर्य : राजा निमि ने नौ योगेन्द्रों से भगवान् की मायाशक्ति के विषय में अपना भय व्यक्त किया था और उनसे अनुरोध किया था कि वे माया की विस्तृत व्याख्या करें, जिससे वह उसका शिकार बनने से बच जाये। अब श्री अन्तरीक्ष माया का वर्णन कर चुकने के बाद राजा निमि द्वारा पूछे जाने की प्रतीक्षा न करके स्वयं सुझाव दे रहे हैं, “अब माया के प्रभाव के विषय में सुन चुकने के बाद तुम्हें चाहिए कि ऐसे प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होने की विधि पूछो।” श्रीधर स्वामी के अनुसार श्री अन्तरीक्ष के प्रश्न किं भूयः श्रोतुमिच्छसि का यही महत्त्व है।

पिछले श्लोकों में प्रलय की जो प्रक्रिया दी गई है, उसकी व्याख्या में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जो कुछ लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—भगवान् वासुदेव उस चेतना के अधिष्ठाता देव हैं, जो महत् तत्त्व के भीतर प्रकट होती है। महत् तत्त्व के और अधिक रूपान्तरों (विकारों) से तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार प्रकट होते हैं—(१) वैकारिक अर्थात् सतोगुणी अहंकार से ग्यारहवीं इन्द्रिय अर्थात् मन प्रकट होता है, जिसका अधिष्ठाता अनिरुद्ध है। (२) तैजस अर्थात् रजोगुणी अहंकार से बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसका अधिष्ठाता प्रद्युम्न है। साथ ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने अपने अधिष्ठाताओं सहित उत्पन्न होती हैं। (३) तमोगुणी अहंकार से सूक्ष्म शब्द उत्पन्न होता है और तब शब्द से धीरे धीरे अन्य सारे भौतिक तत्त्व यथा आकाश और श्रवणेन्द्रिय इत्यादि उत्पन्न होते

हैं। इन तीनों प्रकार के अहंकार का अधिष्ठाता संकर्षण है। यह विवरण *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध के अध्याय २६ के श्लोक २१, २७, २८, ३०, ३१, ३२ तथा ३५ से लिया गया है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति माया द्वारा भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। वह माया लाल, श्वेत तथा काला—इन तीन रंगों वाली है। लाल रंग में प्रकृति की सृष्टि होती है, श्वेत में उसका पालन होता है और काले में संहार हो जाता है। *महत तत्त्व* इसी माया से उत्पन्न होता है और महत तत्त्व से ही उपर्युक्त तीन प्रकार के मिथ्या अहंकार जन्म लेते हैं। प्रलय के समय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच महातत्त्व उसी तमोगुणी अहंकार में मिल जाते हैं जिससे ये शुरू में उत्पन्न हुए थे। इसी तरह दसों इन्द्रियाँ तथा मन रजोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाते हैं और मन देवताओं समेत सतोगुणी मिथ्या अहंकार में मिल जाता है, जो पुनः महत तत्त्व में और यह महत तत्त्व पुनः प्रकृति या अव्यक्त *प्रधान* में शरण लेता है।

जैसाकि ऊपर बतलाया गया है प्रत्येक स्थूल तत्त्व अपने विभेदकारी गुण के नष्ट होने पर समेट लिया जाता है, तब यह तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व में लीन हो जाता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—आकाश या अवकाश में ध्वनि का गुण होता है। वायु में ध्वनि तथा स्पर्श के गुण होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा रूप होते हैं। जल में ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद होते हैं। पृथ्वी में ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध-गुण होते हैं। इसलिए आकाश से लेकर पृथ्वी तक प्रत्येक तत्त्व अपने अद्वितीय गुण के जोड़ने से जिसे *गुण विशेषम्* कहते हैं, जाना जाता है। जब उसका यह गुण चला जाता है, तो वह अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से अभिन्न हो जाता है और इस तरह उसी में लीन होता जाता है। उदाहरणार्थ जब प्रबल वायु पृथ्वी से गंध बहा ले जाता है, तो पृथ्वी में केवल ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद रह जाते हैं और इस तरह वह जल से अभिन्न होकर उसी में मिल जाती है। इसी तरह जब जल रस या स्वाद खो देता है, तो इसमें केवल ध्वनि, स्पर्श तथा रूप बचते हैं और यह अग्नि से अभिन्न हो जाता है, जिसमें भी यही तीन गुण होते हैं। अतः वायु गंध को हटाकर पृथ्वी को जल में मिला देता है और जल का स्वाद हटाकर जल को अग्नि में लीन कर देता है। तत्पश्चात्, जब ब्रह्माण्ड का अंधकार अग्नि से रूप विलग कर देता है, तो अग्नि वायु में मिल जाती है। तब आकाश वायु से स्पर्श-गुण विलग कर लेता है और वायु आकाश में लीन हो जाता है। काल रूप में भगवान् ध्वनि को आकाश से विलग कर

लेते हैं, जिससे आकाश उसी तमोगुणी मिथ्या अहंकार में लीन हो जाता है, जिसमें से वह प्रकट हुआ था। अन्त में यह मिथ्या अहंकार महत तत्त्व में मिल जाता है, जो अव्यक्त प्रधान में लीन हो जाता है और इस तरह ब्रह्माण्ड का संहार हो जाता है।

श्रीराजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।

तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने कहा; यथा—जिस तरह; एताम्—यह; ऐश्वरीम्—भगवान् की; मायाम्—माया को; दुस्तराम्—दुर्लभ; अकृत-आत्मभिः—जो आत्मसंयमी नहीं हैं उनके द्वारा; तरन्ति—पार कर जाते हैं; अञ्जः—आसानी से; स्थूल-धियः—भौतिकतावादी अनुरक्ति के कारण जिनकी बुद्धि मन्द पड़ चुकी हो ऐसे लोग; मह-ऋषे—हे महर्षि; इदम्—यह; उच्यताम्—आप कहें।

राजा निमि ने कहा है, अतः हे महर्षि, कृपया यह बतलायें कि किस तरह एक मूर्ख भौतिकतावादी भी आसानी से भगवान् की उस माया को पार कर सकता है, जो उन लोगों के लिए सदैव दुर्लभ है, जिन्हें अपने ऊपर संयम नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, स्थूल-धियः उनका द्योतक है, जो अज्ञान के कारण अपने को स्थूल भौतिक शरीर मानते हैं और प्रकृति के उन सूक्ष्म नियमों का विश्लेषण नहीं कर पाते, जिनसे आत्मा माया के कारण देहान्तरण करता है। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि स्थूल-धियः उन तथाकथित पुण्यात्माओं का भी सूचक है, जो भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भव्य धार्मिक अनुष्ठान रचाते हैं, किन्तु भगवान् की सेवा करके भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार राजा निमि पहले से महाभागवत थे, अतएव वे जानते थे कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेकर तथा उनकी शुद्ध भक्ति करके मनुष्य माया को पार कर सकता है। इसलिए राजा उन लोगों के हितार्थ प्रश्न पूछ रहे थे, जो भ्रमवश अपने को महान् पण्डित समझते हैं, किन्तु वास्तव में भौतिकतावादी सकाम कर्मों में लिप्त रहने के कारण माया में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अमरकोश से उद्धरण दिया है कि अकृतात्मभिः सूचक है अपूर्णत्वम् का अर्थात् रक्ति जीवन वाले का।

हर जीव का नित्य सम्बन्ध परम पुरुष कृष्ण से है। कृष्ण को अपना नित्य स्वामी, घनिष्ठ मित्र, प्रिय सन्तान या माधुर्य प्रेम का लक्ष्य समझ कर प्रेम किया जा सकता है। हाँ, ऐसे भावों को कभी भी

सामान्य भौतिक भावावेशों से मिलाना नहीं चाहिए, जो आध्यात्मिक रस या सम्बन्धों के विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं। हम भौतिक जगत में इन्हीं दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रसों का आस्वादन करने का यत्न करते हैं, किन्तु ऐसे मनोभावों का स्थान नश्वर भौतिक शरीर होता है, जो प्रकृति के नियमों द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाता है। इन प्रेम-उद्गारों को परम पुरुष कृष्ण के आध्यात्मिक शरीर की ओर निर्दिष्ट करना चाहिए, जो समस्त सौन्दर्य तथा दिव्य आनन्द के आगार हैं। जिसने अपने प्रेम को कृष्ण की ओर उन्मुख करने की कला नहीं सीखी है, वह अपूर्ण है अर्थात् उसका जीवन अन्ततः रिक्त है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार जिसका जीवन अपूर्ण होता है, अर्थात् जिसकी बुद्धि विस्तृत अनुभव के अभाव के कारण पंगु है, उसे भी मन्दधीः कहा जा सकता है। शुद्ध वैष्णव राजा निमि इतने दयालु थे कि उन्होंने पूछा, “भला पंगु बुद्धि वाले ऐसे लोग सरलता से माया को कैसे पार कर सकते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आध्यात्मिक मामलों में अत्यन्त आलसी होते हैं?”

श्रीप्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।

पश्येत्याकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रबुद्धः उवाच—श्री प्रबुद्ध ने कहा; कर्माणि—सकाम कर्म; आरभमाणानाम्—प्रयत्नशील; दुःख-हत्यै—दुख-निवारण के लिए; सुखाय च—तथा सुख पाने के लिए; पश्येत्—देखना चाहिए; पाक—परिणाम का; विपर्यासम्—विपरीत फल; मिथुनी-चारिणाम्—स्त्री तथा पुरुष के रूप में युगल जोड़ा; नृणाम्—ऐसे पुरुषों का।

श्री प्रबुद्ध ने कहा है, अतः मानव समाज में नर तथा नारी की भूमिकाएँ स्वीकार करते हुए बद्धजीव संभोगरत होते हैं। इस तरह वे अपने दुख के निवारणार्थ निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और अपने आनन्द को असीम बनाना चाहते हैं। किन्तु यह देखना चाहिए कि उन्हें सदैव इसका बिल्कुल उल्टा परिणाम मिलता है। दूसरे शब्दों में, उनका सुख अनिवार्यतः, अतः समाप्त हो जाता है और ज्यों ज्यों वे बूढ़े होते जाते हैं, उनकी भौतिक असुविधाएँ बढ़ती जाती हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त की कृपा के बिना देहात्म बुद्धि से छूट पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यही यौन आकर्षण का मोहमय आधार है।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।

गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य—निरन्तर; आर्ति-देन—पीड़ादायक; वित्तेन—सम्पत्ति से; दुर्लभेन—मुश्किल से कमाई गई; आत्म-मृत्युना—आत्मा के लिए मृत्यु; गृह—अपने घर; अपत्य—सन्तानों; आप्त—सम्बन्धीजन; पशुभिः—तथा घर के पशुओं सहित; का—क्या; प्रीतिः—सुख; साधितैः—(उस सम्पत्ति से) प्राप्त किये गये; चलैः—चलायमान, अस्थिर।

सम्पत्ति दुख का अविच्छिन्न स्रोत है, इसे अर्जित करना सर्वाधिक कठिन है और एक तरह से यह आत्मा के लिए मृत्यु स्वरूप है। भला अपनी सम्पत्ति से किसी को कौन-सा लाभ मिलता है? इसी तरह कोई अपने तथाकथित घर, सन्तान, सम्बन्धीगण तथा घरेलू पशुओं से स्थायी सुख कैसे प्राप्त कर सकता है, जो उसकी कठिन कमाई से पालित-पोषित होते हैं?

एवं लोकं परम्विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।

सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लोकम्—संसार; परम्—(इस जीवन के बाद) अगला; विद्यात्—समझ लेने से; नश्वरम्—अस्थायी; कर्म-निर्मितम्—सकाम कर्म से उत्पन्न; स-तुल्य—बराबर वालों (की स्पर्धा) से विशेषित; अतिशय—तथा वरिष्ठ जन; ध्वंसम्—तथा विनाश से; यथा—जिस तरह; मण्डल-वर्तिनाम्—छोटे-छोटे राजाओं की (स्पर्धाएं)।

मनुष्य को स्वर्गलोक में भी ऐसा स्थायी सुख नहीं मिल सकता, जिसे वह अनुष्ठानों तथा यज्ञों से अगले जीवन में प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि भौतिक स्वर्ग में भी जीव अपने बराबर वालों की होड़ से तथा अपने से बड़ों की ईर्ष्या से विचलित रहता है। चूँकि पुण्यकर्मों की समाप्ति के साथ ही स्वर्ग का निवास समाप्त हो जाता है, अतएव स्वर्ग के देवतागण अपने स्वर्गिक जीवन के विनाश की आशंका से भयभीत रहते हैं। इस तरह उनकी दशा उन राजाओं की सी रहती है, जो सामान्य जनता द्वारा ईर्ष्यावश प्रशंसित होते हैं, किन्तु शत्रु-राजाओं द्वारा निरन्तर सताये जाते हैं, जिससे उन्हें कभी भी वास्तविक सुख नहीं मिल पाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने छान्दोग्य उपनिषद् का यह श्लोक (८.१.६) उद्धृत किया है—*तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते*—“मनुष्य का वर्तमान भौतिक सुख, जो उसके पूर्वकर्म का फल होता है, समय के साथ नष्ट हो जाता है। इसी तरह भले ही पुण्यकर्म करने से कोई अगले जन्म में उच्च पद प्राप्त कर ले, किन्तु यह भावी पद भी विनष्ट हो जायेगा।” भौतिक भोग का आधार वह शरीर विशेष है, जिसे मनुष्य ने अर्जित किया है। भौतिक शरीर *कर्मचितः*

है—अर्थात् पूर्वकर्मों का संचित फल है। यदि किसी को सौन्दर्य, शिक्षा, लोकप्रियता, बल इत्यादि से अलंकृत शरीर मिलता है, तो उसका भौतिक भोग का स्तर भी उच्च कोटि का होता है। दूसरी ओर यदि कोई कुरूप, मन्द बुद्धि, पंगु या घृणित होता है, तो उसे भौतिक सुख की बहुत कम आशा रहती है। किन्तु दोनों ही दशाओं में स्थिति टिमटिमाने वाली और क्षणिक है। जिसे सुन्दर शरीर मिला है, उसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि मृत्यु शीघ्र ही ऐसी मदभरी स्थिति का अन्त कर देगी। इसी तरह, जिसने घृणित परिस्थिति में जन्म लिया है, उसे भी पछताना नहीं चाहिए, क्योंकि उसका भी दुख क्षणिक है। सुन्दर और कुरूप, धनी तथा निर्धन, शिक्षित तथा मूर्ख—सबों को कृष्णभावनाभावित बनने का प्रयास करना चाहिए, जिससे वे अपना स्वाभाविक पद प्राप्त कर सकें—जो कि इस भौतिक ब्रह्माण्ड के परे है। मूलतः प्रत्येक जीव कल्पना से परे सुन्दर, बुद्धिमान तथा धनी होता है और इतना बलशाली होता है कि उसका आध्यात्मिक शरीर सदैव जीवित रहता है। किन्तु हम मूर्खतावश इस शाश्वत आनन्दमय स्थिति को त्याग देते हैं, क्योंकि हम शाश्वत जीवन की शर्त को पूरा करना नहीं चाहते। शर्त यह है कि मनुष्य भगवान् कृष्ण का प्रेमी बने। यद्यपि कृष्ण-प्रेम अतिशय आनन्द है, जो भौतिक ब्रह्माण्ड के गहनतम आनन्द से भी लाखों गुना अधिक है, किन्तु मूर्खतावश हम भगवान् से अपना प्रेम-व्यापार तोड़ लेते हैं और आत्म-प्रवंचना तथा मिथ्या अभिमान के भौतिक परिवेश में स्वतंत्र भोक्ता बनने का कृत्रिम प्रयास करते हैं।

कोई व्यक्ति इस ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्वर्गलोक को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु वह नाना प्रकार के तापों से पीड़ित रहेगा। इस भौतिक जगत में हर बद्ध आत्मा महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। इसलिए वह समान इच्छा वाले लोगों द्वारा निरन्तर सताया जाता है। यह स्थिति प्रायः भौतिक जीवन की “चूहा दौड़” कहलाती है। यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी स्वर्गिक प्रसिद्धि के लिए ऐसी ही “चूहा दौड़” होती है। चूँकि कुछ व्यक्ति अनिवार्यतः हमारी उपलब्धियों से बढ़कर सिद्ध होते हैं, अतएव हम जिन पुरस्कारों के लिए प्रयत्न कर रहे थे, उन्हीं का भोग अन्यो द्वारा होते देखकर हमारे हृदय ईर्ष्या से जलते रहते हैं। और चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षणिक होती है, इसलिए हमें भय, चिन्ता तथा मृत्यु का सामना स्वर्गलोक तक में करना ही होता है। यहाँ पर दिया हुआ उदाहरण अत्यन्त उत्तम है। छोटे छोटे राजाओं की प्रशंसा भले ही सामान्य नागरिकों द्वारा उनकी सम्पत्ति, शक्ति तथा यश के लिए की जाय,

किन्तु ऐसे राजा स्वयं भी अन्य राजाओं से प्रतिस्पर्धा तथा धमकी के कारण ईर्ष्या, असहमति तथा भय से निरन्तर दग्ध होते रहते हैं। इसी तरह आधुनिक राजनीतिज्ञ ईर्ष्या तथा भय से निरन्तर व्यथित होते रहते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक सुख की चाह से तथा दुख से बचने के लिए इच्छुक होने से बद्ध आत्माएँ यौन सम्बन्धों की शरण लेते हैं और इस तरह सकाम कर्मों के कठिन श्रम के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं। किन्तु जो प्रबुद्ध होते हैं, वे ऐसे स्थूल भौतिकतावादी प्रयासों की चरम व्यर्थता का अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य के तथाकथित पत्नी, घर, बच्चे, सम्बन्धी, बैंक-खाता इत्यादि सभी नश्वर मायाजाल हैं और प्रकट होकर भी वे किसी की इन्द्रियों को असली सन्तोष प्रदान नहीं कर पाते। इस जगत में धन अर्जित करने के लिए प्रायः आत्महन्ता बनना पड़ता है। भौतिकतावादी कार्यों से आनन्द की प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि नश्वर इन्द्रिय-विषयों का पीछा करने से, वे नश्वर इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। जब बद्धजीव को उसका लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, तो वह गर्वित हो उठता है और दूसरों के समक्ष डींगे मारने लगता है, मानो उसकी उपलब्धियाँ स्थायी हों। और जब वह पराजित होता है, तो शोक में डूब जाता है। अपने को कर्ता मानने की ऐसी प्रवृत्ति क्षीण बुद्धि की परिचायक है, क्योंकि वास्तव में जीव केवल भौतिक शरीर के भीतर इच्छा ही करता है। यह शरीर ईश्वर के नियंत्रण में प्रकृति की शक्तियों द्वारा गतिशील बनता है। स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी जैसे सम्बन्ध शुभकामना तथा सेवा के आदान-प्रदान पर आधारित होते हैं, जिनसे भौतिक तृप्ति की अनुभूति होती है, किन्तु ऐसी क्षणिक भक्ति से आत्मा को शाश्वत लाभ नहीं पहुँच सकता। ऐसी क्षणिक तृप्ति द्वारा माया बद्धजीव को सारे संसार में भटकाती रहती है और वह भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त कर्मफलों को भोगता रहता है। कर्म के सूक्ष्म नियमों के अनुसार ही जीव को सुख-दुख प्राप्त होते हैं। किसी को बलपूर्वक सुख नहीं मिल सकता, चाहे वह कितना ही कठिन या कितने ही समय तक प्रयास क्यों न करे। अतएव जिनकी बुद्धि विमल है, उन्हें भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाना चाहिए और स्थायी भौतिक सुख की हास्यास्पद तलाश छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी तलाश कुत्ते द्वारा अपनी पूँछ की तलाश के समान है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; गुरुम्—गुरु की; प्रपद्येत—शरण ग्रहण करे; जिज्ञासुः—उत्सुक होकर; श्रेयः उत्तमम्—सर्वोच्च कल्याण के लिए; शाब्दे—वेदों में; परे—ब्रह्म में; च—तथा; निष्णातम्—पूर्णतया ज्ञेय; ब्रह्मणि—ब्रह्म के (इन दोनों पक्षों में); उपशम-आश्रयम्—भौतिक मामलों से विरक्त होने पर स्थित ।

अतएव जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक असली सुख की इच्छा रखता हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु की योग्यता यह होती है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत हो चुका होता है और इन निष्कर्षों के विषय में अन्यो को आश्रय करने में सक्षम होता है। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक धारणाओं को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार शाब्दे शब्द वैदिक वाङ्मय का द्योतक है और परे भगवान् का। प्रामाणिक गुरु को निष्णातम् होना चाहिए अर्थात् उसे प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों का गहन अनुभव होना चाहिए और भगवान् की व्यावहारिक समझ होनी चाहिए। ऐसा न होने पर तथाकथित गुरु अपने शिष्यों के संशयों को दूर नहीं कर सकेगा और इस तरह निष्ठावान् छात्र को भगवद्धाम वापस ले जाने में असमर्थ होगा। वेदों तथा कृष्ण के अनुभूत ज्ञान का लक्षण उपशमाश्रयम् है। दूसरे शब्दों में, प्रामाणिक गुरु वह है, जो भौतिकतावादी समाज, मैत्री तथा प्रेम की चमक-दमक वाले मोह से विरक्त हो चुका हो।

भौतिक जगत के अन्तर्गत मनुष्य निश्चित रूप से महान् बुद्धिजीवी, सशक्त राजनीतिज्ञ, अनेक सुन्दर बच्चों का प्यारा पिता, सुसम्मानित कल्याण कार्यकर्ता या बहुप्रशंसित तथा सफल व्यापारी बनने के प्रति आकृष्ट रहता है। लेकिन इनमें से एक भी भौतिक पद न तो स्थायी है, न ही स्थायी सुख प्रदान करने वाला है, क्योंकि ये सारे के सारे उस मूलभूत भ्रान्ति पर आधारित हैं, जिससे मनुष्य अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में करता है।

कोई भी व्यक्ति आसानी से अनुभव कर सकता है कि वह शरीर नहीं है, बल्कि चेतना है। यदि कोई अपने शरीर के किसी अंग को खो देता है, तो भी वह चेतन जीव ही रहता है। अन्ततोगत्वा मृत्यु के समय सारा शरीर नष्ट हो जाता है और जीव को नया शरीर मिलता है। चेतना के रूप में अपनी

पहचान का प्रारम्भिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार कहलाता है। किन्तु इस प्रारम्भिक ज्ञान के परे यह विस्तृत विषय है कि ८४,००,००० योनियों का चक्रर लगाते हुए आत्मा अस्तित्व में कैसे आया। और यदि जीव भौतिक शरीर न होकर चेतना है, तो उसका किसी उच्च पद पर कोई आदि स्थान होना चाहिए।

दण्ड में पुरस्कार भी छिपा रहता है। जो सशक्त व्यक्ति दण्ड दे सकता है, वह पुरस्कार भी दे सकता है। अतएव ऐसे जीव के लिए जो जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से युक्त कष्टप्रद भौतिक शरीर धारण करने पर बाध्य होता है, दण्ड के विधान का अर्थ है कि उसके लिए पुरस्कार भी है। यद्यपि हम भूल से भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को जीवन का चरम पुरस्कार मान बैठते हैं, किन्तु भौतिक सुख वास्तव में दण्ड का दूसरा रूप है, क्योंकि इससे मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने के लिए लुब्ध होता है। पाश्चात्य देशों में उग्र कैदियों को एकान्तवास दिया जाता है, जबकि शिष्ट कैदियों को जेल अधिकारी के बाग में या पुस्तकालय में पुरस्कार स्वरूप काम करने दिया जाता है। किन्तु कारागार के भीतर का कोई भी पद आखिर दण्ड ही है। इसी तरह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की उच्च तथा निम्न कोटियाँ जीव के चरम पुरस्कार की व्याख्या नहीं कर सकती। असली पुरस्कार तो भगवद्धाम में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त जीवन है, जहाँ किसी तरह का दण्ड नहीं होता। ईश्वर का धाम वैकुण्ठ है अर्थात् मुक्त आनन्द है। वैकुण्ठ में कोई दण्ड नहीं होता। यह तो नित-वर्धमान आनन्द का स्थान है।

प्रामाणिक गुरु वह है, जो इन विषयों में अपनी कल्पना के आधार पर नहीं, अपितु प्रामाणिक वैदिक साहित्य के परिपक्व ज्ञान में, जो भगवान् की अहैतुकी कृपा की साहित्यिक अभिव्यक्ति है, दक्ष होता है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३) में कहा है—

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

“हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।” इसलिए गुरु को चाहिए कि शिष्य में भक्ति जागृत करे। यहाँ पर उस माता का उदाहरण दिया जा सकता है, जो भोर में ही अपनी सन्तान के कमरे में जाकर उसे जगाती है, जिससे वह पाठशाला जा सके। यद्यपि बालक उठना नहीं चाहता, किन्तु ममतामयी माता उसे उठने के लिए बाध्य करती है, जिससे वह पाठशाला जाकर शिक्षित बन सके। इसी

तरह प्रामाणिक गुरु सुप्त जीव को जगाकर गुरुकुल या गुरु के आश्रम भेजता है, जहाँ उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके।

यदि शिष्य को कृष्णभावनामृत की महत्ता के विषय में शंका हो, तो प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि श्रेष्ठ ज्ञान द्वारा उसे दूर करे। जो व्यक्ति कृष्ण या वैदिक ज्ञान के प्रमाण के विषय में शंका करता है, वह प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। दूसरी ओर, *किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केन नय।येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, सेइ 'गुरु' हय*—किसी भी जाति का व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बन सकता है, यदि वह कृष्ण के विज्ञान को जानता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।

आमार आज्ञाय गुरु हज तार एइ देश ॥

“हर व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण के उन आदेशों का पालन करने की शिक्षा दो, जो भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत में दिये हुए हैं। इस तरह गुरु बन कर इस धरा के प्रत्येक निवासी का उद्धार करने का प्रयास करो।” (चैतन्य चरितामृत, मध्य ७.१२८) केवल भगवान् के आदेश से गुरु बना जा सकता है, अपने तथाकथित पाण्डित्य से नहीं।

प्रामाणिक गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य को कृष्ण से जोड़े। कोई विद्वान या चिन्तक तब तक अन्य जीव को कृष्ण से जोड़ने की शक्ति नहीं रखता, जब तक वह स्वयं कृष्ण से जुड़ा न हो। यद्यपि बहुत-से क्रीड़ा-प्रशंसक व्यायाम सम्बन्धी स्पर्धाओं में उपस्थित रहते हैं और कठिन करतबों के प्रदर्शन में वाह-वाह करते हैं, किन्तु भगवान् ऐसे दर्शक नहीं, न ही वे योग के नाम पर मूर्ख व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले आसनों की वाहवाही करते हैं। न ही भगवान् दार्शनिक चिन्तन के घटिया दर्जे के प्रयासों से प्रभावित होते हैं, क्योंकि भगवान् पहले ही *भगवद्गीता* में अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं (*श्रुणु मे परमं वचः*)। भगवान् के शब्द *परमं वचः* हैं—अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा हैं और कृष्ण का कथन है *यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यम् अवशिष्यते*—जब तुम इस ज्ञान को जान लोगे, तो आगे जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहेगा। कृष्ण ने इस ज्ञान को *राज विद्या* भी कहा है।

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का प्रेमी नहीं बनता, तो कृष्ण से उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अर्थात् माया के माध्यम से होता है। यह विचार कि कोई व्यक्ति आसनों द्वारा या ब्रह्म के मूर्खतापूर्ण चिन्तन द्वारा

भगवान् को आकृष्ट कर सकता है, निस्सन्देह माया की उपज है। जो व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा माया-शक्ति द्वारा कृष्ण से जुड़ता है, वह भौतिक गुरु के रूप में अपने तथाकथित शिष्यों को उसी माया से जोड़ सकता है। दूसरी ओर *भगवद्गीता* (९.१३) में कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

“हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।” जो लोग वास्तव में महात्मा हैं, वे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के शरणागत होते हैं और वे अन्यो को अपनी ही तरह अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति से जोड़ सकते हैं। *भगवद्गीता* में महात्मा का वर्णन इस प्रकार हुआ है : *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—वह मुझे समस्त कारणों का और सारे के सारे अस्तित्व का कारण मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे गुरु की, जो इस परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुआ रहता है कि वासुदेव ही सर्वस्व हैं, ही शरण ग्रहण की जानी चाहिए। नारद मुनि के अनुसार *यो विद्वान् स गुरुर्हरिः*—ऐसे महात्मा को साक्षात् कृष्ण की बाह्य अभिव्यक्ति मानना चाहिए। कृष्ण ने यह भी कहा है (भागवत ११.१७.२७) :

आचार्यं मां विजानीयन्नावमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

“मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को साक्षात् मेरा स्वरूप माने और किसी तरह से उसका अनादर न करे। उसे सामान्य व्यक्ति समझ कर उससे ईर्ष्या न करे, क्योंकि वह समस्त देवताओं का प्रतिनिधि होता है।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, यदि गुरु उच्च ज्ञान द्वारा अपने शिष्य की शंकाओं को दूर नहीं कर सकता, तो वह शिष्य धीरे-धीरे आध्यात्मिक जीवन के प्रति निराश हो जायेगा। चूँकि नकली गुरु अपने शिष्य को कृष्ण से नहीं मिला सकता, क्योंकि नियम है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य*, अतः कृष्ण के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त न कर सकने से शिष्य भौतिक सुख की ओर पुनः आकृष्ट होगा। ऐसे अशक्त गुरु का अशक्त शिष्य आत्म-साक्षात्कार के अपने प्रयास में धीरे धीरे हतोत्साहित हो उठेगा

और पुनः स्त्रियों, धन तथा कल्पना एवं चिन्तन पर आधारित तथाकथित बौद्धिकता जैसे माया के प्रलोभनों द्वारा मोहित हो जायेगा।

प्रामाणिक गुरु के और अधिक लक्षण उपदेशामृत (१) में दिये हुए हैं—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वाम् अपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥

“जो धीर पुरुष बोलने की उत्कंठा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा वाणी, उदर और जननेन्द्रियों की उत्कंठाओं को सह सकता है, वह सारे विश्व में शिष्य बनाने के लिए योग्य है।” श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है— *उपशमाश्रयं क्रोधलोभाद्यवशीभूतम्*—प्रामाणिक गुरु सामान्य क्रोध, लोभ तथा काम-वासना के वशीभूत नहीं हो सकता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जिस व्यक्ति ने संसार की असारता को समझ लिया है, वही गुरु के निकट तक जा सकता है। पिछले दो श्लोकों में पार्थिव तथा स्वर्गिक इन्द्रिय-तृप्ति की व्यर्थता का वर्णन हुआ है। अब यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि जिसने यह सब समझ लिया है, उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ लोक जैसे दिव्य लोकों की ध्वनि को प्रसारित करता है। दिव्य लोकों के निवासी, जिनमें स्वयं भगवान् मुख्य हैं, न तो बहरे हैं और न गूंगे। वे असीम आनन्द तथा ज्ञान के माध्यम से निरन्तर संचार स्थापित किये रहते हैं और प्रामाणिक गुरु आनन्द तथा ज्ञान की इस ध्वनि को अपने शिष्य तक प्रेषित कर सकता है। जिस तरह रेडियो संसारी समाचार प्रसारित करता है, उसी तरह प्रामाणिक गुरु वैकुण्ठ के समाचार प्रसारित करता है। इसकी पुष्टि नरोत्तम दास ठाकुर द्वारा होती है : *गोलोकेर प्रेमधन, हरिनाम-सङ्कीर्तन*। गुरु अपने शिष्य तक कृष्ण के पवित्र नाम को भी प्रेषित करता है, जो साक्षात् कृष्ण से अभिन्न है। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को बताता है कि हर जीव गुणात्मक रूप से भगवान् से एकाकार है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भिन्न है और इस तरह शिष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है। चूँकि गुणात्मक दृष्टि से जीव भगवान् से एकाकार है और उनका अंश रूप है, इसलिए उन दोनों के मध्य नित्य प्रेम-सम्बन्ध होता है। और चूँकि

मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् से भिन्न है, अतः उसका सम्बन्ध शाश्वत दासता का होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भले ही किसी को अत्यन्त योग्य तथा प्रामाणिक गुरु प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो, किन्तु यदि उसे सकाम कर्मों में या मानसिक चिन्तन में रुचि बनी रहती है, तो उसकी प्रगति रुक जाएगी। किन्तु यदि धीर शिष्य अपने प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो भगवद्भक्ति में पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द के सम्प्रेषण में कोई अवरोध नहीं आता।

तत्र भागवतान्धर्मांशिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।

अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (गुरु की संगति में); भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिक्षेत्—सीखना चाहिए; गुरु-आत्म-दैवतः—वह, जिसके लिए गुरु प्राण है और आराध्य देव है; अमायया—बिना धोखे के; अनुवृत्त्या—श्रद्धापूर्ण सेवा द्वारा; यैः—जिसके (भक्ति) द्वारा; तुष्येत्—तुष्ट किया जा सकता है; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—आत्मा प्रदान करने वाला; हरिः—भगवान् हरि।

प्रामाणिक गुरु को प्राण एवं आत्मा तथा आराध्य देव मानते हुए शिष्य को चाहिए कि उससे शुद्ध भक्ति की विधि सीखे। समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् हरि अपने आपको अपने शुद्ध भक्तों को सौंपने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए शिष्य को अपने गुरु से द्वैतरहित होकर भगवान् की श्रद्धापूर्ण तथा उपयुक्त विधि से सेवा करना सीखना चाहिए, जिससे वे तुष्ट होकर श्रद्धालु शिष्य को अपने आपको सौंप सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अपने शुद्ध भक्त को अपने को प्रदान करने की प्रवृत्ति बलि महाराज के उदाहरण में देखी जा सकती है, जिन्होंने भगवान् वामनदेव के आनन्द हेतु अपना सारा राज्य बलिदान कर दिया। भगवान् वामन बलि महाराज की इस निष्काम शरणागति से इतने प्रसन्न हुए कि वे बलि के महल के द्वारपाल बने और उन्हें संसार में महान् नायक के रूप में पुनः स्थापित कर दिया गया।

श्रील जीव गोस्वामी का अभिमत है कि गुरु को शिष्य की *आत्मा* अर्थात् प्राण समझना चाहिए, क्योंकि असली जीवन तो प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा दिये जाने पर ही शुरू होता है। भले ही किसी को स्वप्न में अनेक अद्भुत या महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हुई घटनाएँ घटती क्यों न दिखें, किन्तु असली जीवन तो तब आरम्भ होता है, जब वह जागता है। इसी प्रकार, चूँकि गुरु शिष्य में आध्यात्मिक जीवन जागृत

करके उसे जन्म देता है, इसलिए प्रामाणिक शिष्य समझता रहता है कि उसका गुरु ही उसके जीवन का आधार है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, अतएव शुद्ध भक्त के हाथों भगवान् द्वारा अपने आपको सौंपना इस बात का सूचक है कि ऐसा भक्त सर्वोच्च आनन्द में निमग्न हो गया है। इस सम्बन्ध में एक श्रुति मंत्र है—*आनन्दाद् धीमानि भूतानिजायन्ते*—निश्चय ही आनन्दमय ब्रह्म से सारे प्राणियों का जन्म हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके आगे भी कहा है कि जब भगवान् किसी शुद्ध भक्त को अपने आपको अर्पित कर देते हैं, तो ऐसा भाग्यशाली भक्त भगवान् का दर्शन कर सकता है, उनका स्पर्श कर सकता है और उनकी प्रत्याक्षतः सेवा कर सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार गुरु को कभी भी न तो संसारी माना जाय, न ही अपने समान स्तर पर। गुरु को सदैव भगवान् के चरणकमलों की शरण में देखा जाना चाहिए। कभी भी गुरु पर रोब जमाने के विचार से गुरु से निजी सेवा नहीं लेनी चाहिए और न ही उनके माध्यम से कोई भौतिक लाभ प्राप्त करना चाहिए। जो व्यक्ति वास्तव में अग्रसर होता रहता है, वह गुरु की अधिकाधिक सेवा करने के लिए उन्मुख होता है और इस तरह ऐसे शिष्य को भगवान् के आनन्द का अनुभव होने लगता है।

श्रील रूप गोस्वामी ने निष्ठावान शिष्य की प्रगति के लिए चार प्रारम्भिक आवश्यकताएँ बतलाई हैं—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम् ।

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्तमानुवर्तनम् ॥

(१) “प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना (२) गुरु द्वारा दीक्षित किया जाना और उससे भक्ति करने की विधि सीखना (३) श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक गुरु के आदेशों का पालन करना तथा (४) गुरु के निर्देशन में महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना।” (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.७४) जिसने इन प्रारम्भिक कर्तव्यों को पूरा कर लिया हो, वह *श्रीमद्भागवत* का आस्वाद करने का पात्र है।

जब कोई व्यक्ति सचमुच ही *श्रीमद्भागवत* की ध्वनि को यथारूप में सुनता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा तथा मानसिक चिन्तन से मुक्त हो जाता है और भगवान् कृष्ण की सेवा में सुखी तथा प्रसन्न रहता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे ।

भक्तिरुत्पाद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥

“*श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने मात्र से शोक, मोह तथा भय की अग्नि को शमन करने के लिए भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति की भावना तुरन्त फूट पड़ती है।” (*भागवत* १.७.७) मनुष्य को चाहिए कि ऐसे प्रामाणिक गुरु से *श्रीमद्भागवत* सुने, जो *भागवत* की दिव्य ध्वनि सुनने से उत्पन्न लालसा को प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रवृत्त कर सके। ऐसा दिव्य प्रामाणिक कार्य *भागवत धर्म* कहलाता है। इस्कॉन के अन्तर्गत ऐसे हजारों प्रचार सम्बन्धी अधिकृत कार्य हैं। *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करके तथा ऐसे कार्यों को करके इस्कॉन के सदस्य शोक, मोह तथा भय से मुक्ति पाते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का मत है कि जिन लोगों ने *श्रीमद्भागवत* की दिव्य ध्वनि सुन कर परिपक्व ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे इस स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के हंसगीता में वर्णित *त्रिदण्डिन्यास* ग्रहण कर सकते हैं। तथाकथित वैष्णव जो कि शरीर, मन तथा वाणी पर पूर्ण संयम की उपेक्षा सनकीपन से करता है, वह प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा इन्द्रिय-भोक्ता वैष्णव संन्यास का वेश तथा दण्ड धारण करने का स्वाँग रचता भी है, तो उसे वाँछित फल—अर्थात् कृष्ण-प्रेम नहीं प्राप्त हो सकेगा। प्रामाणिक वैष्णव को चाहिए कि इन्द्रिय-तृप्ति तथा मानसिक चिन्तन के किसी भी प्रकार के मल से अपने को मुक्त करने के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करे और प्रेमपूरित हृदय से गुरु के आदेशों का पालन करे। गुरु के उच्च पद को सदा स्मरण रखने से शिष्य को कृष्ण के चरणकमलों पर शरण प्राप्त हो सकेगी।

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।

दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सर्वतः—सर्वत्र; मनसः—मन की; असङ्गम्—विरक्ति; आदौ—प्रारम्भ में; सङ्गम्—संगति; च—तथा; साधुषु—साधुओं की; दयाम्—दया; मैत्रीम्—मित्रता; प्रश्रयम्—आदर; च—तथा; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; अब्दा—इस प्रकार; यथा उचितम्—जो उपयुक्त हो।

निष्ठावान् शिष्य को चाहिए कि मन को प्रत्येक भौतिक वस्तु से विलग रखना सीखे एवं अपने गुरु तथा अन्य साधु भक्तों की संगति का सकारात्मक रूप से अनुशीलन करे। उसे अपने से निम्न पद वालों के प्रति उदार होना चाहिए, समान पद वालों के साथ मैत्री करनी चाहिए और जो अपने से उच्चतर आध्यात्मिक पद पर हैं, उनकी विनीत भाव से सेवा करनी चाहिए। इस तरह उसे समस्त जीवों के साथ समुचित व्यवहार करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने गरुड़ पुराण से उद्धरण देकर बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो लोग देवताओं, महर्षियों या पवित्र मनुष्यों की तरह जन्म लेते हैं, वे सन्तः माने जाते हैं। भगवद्गीता के अनुसार त्रैगुण्यविषया वेदाः—वैदिक साहित्य में वर्णित वर्णाश्रम संस्कृति उन लोगों से सम्बन्धित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों से संघर्ष कर रहे हैं। वैदिक ग्रंथ ऐसे बद्धजीवों को यह शिक्षा देते हैं कि केवल पवित्र कार्य द्वारा ही भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह देवताओं को प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत सर्वाधिक पवित्र जीव माना जाता है। विभिन्न लोकों की स्वेच्छा से विचरण करने वाले तथा योगशक्ति वाले ऋषिगण देवताओं से थोड़ा-सा नीचे माने जाते हैं और पृथ्वी के वे मनुष्य जो वैदिक अनुष्ठानों को पूर्णतया सम्पन्न करते हैं, सन्तों की निम्नतम अर्थात् तीसरी कोटि में माने जाते हैं। किन्तु भगवद्भक्त प्रकृति के तीनों गुणों से परे होता है। भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता (१४.२६) में कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो समस्त परिस्थितियों में अच्युत भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर (पद) तक पहुँच जाता है।” इस तरह कृष्ण स्पष्ट कर देते हैं कि जो वैष्णव भक्तियोग के नियमों से च्युत नहीं होता, वह तीनों गुणों से परे है। भगवान् कृष्ण ने कृष्ण-भक्त अर्जुन को माया के तीनों गुणों को लाँघने की सलाह दी (निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन)। किन्तु भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय (१८.४०) में भगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

“इस लोक में तथा स्वर्गलोकों में देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा व्यक्ति विद्यमान नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।” इस तरह देवता प्रकृति के तीन गुणों के दूषण से मुक्त नहीं होते, जबकि शुद्ध भक्त वस्तुतः गुणातीत है अर्थात् माया के प्रभाव से परे है।

अतएव मनुष्य को उत्तम अधिकारी अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति करनी चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है (भागवत ११.३.२१)—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

“अतएव जो व्यक्ति वास्तविक सुख का इच्छुक है, उसे चाहिए कि प्रामाणिक गुरु खोजे और दीक्षा लेकर उसकी शरण ग्रहण करे। प्रामाणिक गुरु का गुण यह है कि वह विचार-विमर्श द्वारा शास्त्रों के निष्कर्षों से अवगत रहता है और अन्यो को इन निष्कर्षों के विषय में विश्वस्त कर सकता है। ऐसे महापुरुष जिन्होंने सारे भौतिक अनुचिन्तन को त्याग कर भगवान् की शरण ले रखी है, उन्हें ही प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।”

दूसरी ओर, मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी व्यक्ति की संगति से बचे, भले ही वह ऊपर से कृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करता हो। ऐसी दशा में श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

कृष्णोति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत

दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम् ।

शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-

निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसंगलब्ध्या ॥

ऐसे किसी भी व्यक्ति को, जो कृष्ण-नाम का कीर्तन करता हो, मन ही मन नमस्कार किया जा सकता है, किन्तु भौतिकतावादी व्यक्तियों की घनिष्ठ संगति से बचना चाहिए, विशेष रूप से उनसे जो यौन-सुख में आसक्त रहते हैं। *तमोद्वारं योषितां संगि-संगम्*। यदि ऐसे कामी व्यक्ति की संगति की जाय, जिसे स्त्रियों की संगति प्रिय है, तो ऐसी संगति से मनुष्य निश्चित रूप से नर्क में जाता है।

किन्तु यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति शुद्ध भक्त से आध्यात्मिक सुधार के विषय में सुनने की इच्छा से उससे सम्पर्क करता है, तो उस उच्च श्रेणी के भक्त को चाहिए कि दयापूर्वक उसे अपनी संगति प्रदान करे, बशर्ते कि ऐसी संगति का अभिप्राय कृष्ण-भक्ति में प्रगति हो। ऐसी संगति से भौतिकतावादी व्यक्ति भी क्रमशः शुद्ध कृष्ण-भक्त बन सकता है। यदि ऐसा प्रगत भक्त उस भौतिकतावादी व्यक्ति को कृष्ण-भक्ति में नहीं लगा पाता, तो ऐसी संगति वर्जित है।

गरुड़ पुराण में कहा गया है कि—

विशेषतः स्वोत्तमेषु विना संगं न मुच्यते।

स्वनीचेषु तु देवेषु विना संगं न पूर्यते ॥

“भगवद्भक्त की संगति के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। और जब तक किसी निम्न पद वाले पर दया नहीं दिखलाई जाती, तब तक मनुष्य का जीवन सतही रहेगा।” कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हमारा यह व्यावहारिक अनुभव है कि जो लोग कृष्ण के संदेश का प्रचार करके अपनी दया को विस्तार दे रहे हैं, वे तेजी से आध्यात्मिक प्रगति कर रहे हैं और उनका जीवन दिव्य आनन्द से पूरित होता जाता है। जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों में अरुचि होने से दया के गुण की उपेक्षा करते हैं, वे दिव्य आनन्द से पूरित नहीं होते, जिसका वर्णन *पूर्यते* शब्द से हुआ है। दिव्य आनन्द से पूरित न होने से ऐसे व्यक्ति अपने जीवन को इन्द्रिय-तृप्ति, मानसिक चिन्तन, स्त्री-संग, अनेक संसारी उपन्यासों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं इत्यादि के पठन द्वारा भौतिक आनन्द से पूरित करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार कार्य को सतत वर्धमान आनन्द का सागर—*आनन्दाम्बुधिवर्धनम्*—कहा है। मिशनरी कार्य *दयाम्* अर्थात् पतितों पर दया के सिद्धान्त पर आधारित है। जो लोग प्रचार कार्य में लगे हैं, वे अन्य प्रचारकों की संगति से प्रोत्साहित होते हैं। यह सिद्धान्त *मैत्रीम्* अर्थात् समान व्यक्तियों में मित्रता कहलाता है। ऐसे प्रचार कार्य करने की शक्ति एवं कृष्ण का संदेश वितरित करने का उचित मार्गदर्शन, गुरु जैसे महापुरुषों के चरणकमलों की सेवा अर्थात् *प्रश्रयम्* सिद्धान्त से ही प्राप्त होते हैं। यदि गुरु के निर्देशन में तथा साथी प्रचारकों के संग रह कर कृष्णभावनामृत का निष्ठापूर्वक प्रचार किया जाय, तो भागवत के इस श्लोक की पूरी तरह पूर्ति होती है और *सर्वतो मनसोऽसंगम्*—अर्थात् भगवान् की माया से पूर्ण विरक्ति प्राप्त की जा सकती है।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि ह्य*। भगवद्भक्तों के प्रति लगाव होने से मनुष्य को जीवन की सिद्धि—भगवद्धाम वापस जाने—का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

यदि कोई व्यक्ति पापपूर्ण जीवन में व्यस्त रह कर भगवान् के आदेश की उपेक्षा करता है, तो वह दयालु नहीं है। जो व्यक्ति भगवान् के भिन्नांश होने के अपने नित्य पद की उपेक्षा करता है और इसके विपरीत अपने को इस प्रकार की अस्थायी उपाधियों के रूप में भौतिक मोहों से जैसे कि “मैं अमरीकी हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ”—आवृत कर लेता है, वह आत्महन्ता है और उसे दयालु नहीं माना जा सकता। इसी तरह जो लोग मांस, मछली तथा अंडे खाकर पशु-हत्या का समर्थन करते हैं, वे दयालु नहीं माने जा सकते। कभी कभी यह तर्क पेश किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचाता तो वह पूर्णरूपेण धार्मिक है। किन्तु हम अज्ञान में रहने के कारण यह नहीं समझ पाते कि हमारे वर्तमान कार्यों का भविष्य में क्या फल होगा। प्रकृति के सूक्ष्म नियमों को जाने बिना केवल इस डींग मारने से कि अमुक व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचा रहा, कोई धार्मिक नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति ईश्वर द्वारा बनाये गये उन नियमों की शरण ग्रहण करके धार्मिक बनता है, जो *भगवद्गीता* में साक्षात् भगवान् द्वारा कहे गये हैं। जब तक मनुष्य अपनी ही कल्पना की लहरों में बहता रहता है, जो उसे सागर की तरंगों की भाँति दूर ले जाती हैं, तब तक वह भगवद्भक्ति की विधि को नहीं समझ पाता। भगवान् की माया की विविध सृष्टियों के बारे में अपनी अनुभवजन्य मनोकल्पना से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य को भौतिकतावादी संगति का परित्याग करके, उन शुद्ध भगवद्भक्तों का साथ करना चाहिए, जो भगवान् को पूरी तरह प्रसन्न करने में चौबीसों घंटे लगे रहते हैं।

मनुष्य को उन लोगों की संगति करनी चाहिए, जो भक्ति में उससे उच्च स्तर पर हों। किसी की प्रगति को उसकी इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्ति द्वारा तथा अन्यो को कृष्णभावनामृत वितरित करने की क्षमता द्वारा मापा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है *छाडिया वैष्णवसेवा, निस्तार पायेछे केबा*—वैष्णव की सेवा का परित्याग करने वाले को मोक्ष कैसे मिल सकता है? शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की सेवा करके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिसे कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की दया प्राप्त हो जाती है, उसके लिए भौतिक जगत के तथाकाथित सारे आनन्द,

जिनका अन्त नाना प्रकार की विषय-वासनाओं तथा अपने को ईश्वर समझने की दृष्टि पाने में होता है, व्यर्थ हो जाते हैं। इस समस्त भौतिक जगत की उपमा सागर के क्षुद्र बुलबुले से दी जाती है। यह भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति पर अर्थात् *ब्रह्मज्योति* पर उसी तरह टिका हुआ है, जिस तरह क्षुद्र बुलबुला असीम समुद्र की शक्ति पर टिका होता है। शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके मनुष्य नित्य आनन्द के सागर में प्रवेश कर सकता है और कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव कर सकता है। वैष्णवों की दया असीम होती है और जिसने इस दया का आस्वाद कर लिया है, वह तथाकथित भौतिक सुख या मानसिक चिन्तन की परवाह न करके कृष्ण के चरणों के पीछे पागल हुआ रहता है। वैष्णवों की दया तात्त्विक है और कृष्ण के ही तुल्य शक्तिमान है, जबकि निर्विशेष चिन्तन तथा समाज, मैत्री एवं प्रेम विषयक व्यर्थ के स्वप्न वे साधन हैं, जिनसे माया बद्धजीवों को ठगती रहती है और उन्हें निरन्तर उद्विग्न बनाये रखती है।

शौचं तपस्तिक्ष्णां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; तपः—तपस्या; तितिक्षाम्—सहनशीलता; च—तथा; मौनम्—चुप्पी, मौन; स्वाध्यायम्—वेदाध्ययन; आर्जवम्—सादगी; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य-व्रत; अहिंसाम्—अहिंसा; च—तथा; समत्वम्—समता; द्वन्द्व-संज्ञयोः—द्वैत के रूप में अनुभव की जाने वाली परिस्थितियों में।

गुरु की सेवा करने के लिए शिष्य को स्वच्छता, तपस्या, सहनशीलता, मौन, वेदाध्ययन, सादगी, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा गर्मी और शीत, सुख और दुख जैसे द्वैतों के समक्ष समत्व सीखना चाहिए।

तात्पर्य : शौचम् आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धता का द्योतक है। बाहर से शुद्ध रहने के लिए दिन में कम से कम एक बार, अन्यथा तीन बार साबुन लगाकर पानी से स्नान करना चाहिए। जब मिथ्या अहंकार के दूषण से कोई मुक्त होता है, तो वह आन्तरिक रूप से शुद्ध माना जाता है। तपः का अर्थ है मन की अविवेकी तरंगों के बावजूद जीवन में उचित कर्तव्य को पूरा करने में डटे रहना। विशेषतः मनुष्य को क्रोधाग्नि पर नियंत्रण रखना चाहिए और मनमाने विलासी जीवन की आन्तरिक इच्छा से बचना चाहिए। यदि मनुष्य काम, क्रोध तथा लोभ के वेगों को रोक नहीं पाता, तो वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझने की शक्ति खो देता है। यह मनुष्य-जीवन जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि

की विकट समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए स्वर्णिम अवसर है। *विष्णु पुराण* के अनुसार (३.८.९)—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥

हर व्यक्ति अपने नियत कार्य के फलों को भगवान् विष्णु को समर्पित करके आध्यात्मिक सिद्धि पा सकता है। इसी तरह *भगवद्गीता* (१८.४५) में भगवान् कृष्ण स्पष्टरूपेण कहते हैं—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। मनुष्य को न तो मठ में रहना होता है न ही योगी के रूप में जंगल में रहना होता है। वह अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों को भगवान् को समर्पित करके सिद्धि पा सकता है। इसी प्रकार भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है *नामाश्रय करिऽयतने तुमि थकह आपन काजे।* यदि कोई व्यक्ति हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे कीर्तन करके भगवान् कृष्ण के नाम की शरण ग्रहण करता है, तो उसे अपने नैतिक कर्म करते हुए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। दुर्भाग्यवश यदि मानव उस सभ्य जीवन के विधि-विधानों की परवाह नहीं करता, जो अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का निषेध करते हैं, तो वह निश्चय ही काम तथा क्रोध की तरंगों से अभिभूत होगा। ये तरंगें मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की चेतना को पूर्ण रूप से प्रच्छन्न करके नश्वर शरीर के मायाजाल की ओर खींच लायेंगी। *भगवद्गीता* (३.३९) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

“इस प्रकार जीवात्मा की शुद्ध चेतना, उसके काम-रूपी नित्य शत्रु से ढकी रहती है, जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और अग्नि के समान जलता रहता है।” इसलिए इस श्लोक का *तपः* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अपना नियत कर्म करते रहना चाहिए और काम, क्रोध तथा लोभ की लहरों के कारण अधीर या अनियमित नहीं होना चाहिए।

तितिक्षाम् शब्द सूचित करता है कि अध्यात्मवादी को क्षमाशील होना चाहिए। यह भौतिक जगत झुँझलाहट लाने वाली तथा उत्तेजित करने वाली परिस्थितियों से पूर्ण है और जब तक वह अत्यधिक

क्षमाशील नहीं होगा, तब तक वह बदला लेने की भावना से संदूषित होता रहेगा, जिससे आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। *मौनम्* का अर्थ है कि मनुष्य व्यर्थ या ओछे विषयों पर बात नहीं चलाये, अपितु मानव-जीवन के वास्तविक मामलों पर जैसे कि भगवद्धाम वापस जाने के मसले पर विचार-विमर्श करे। एकदम मौन रहना अज्ञानता का लक्षण है। एक पत्थर मौन रहता है, क्योंकि उसमें चेतना का अभाव है। चूँकि हर वस्तु का अपना आध्यात्मिक प्रतिपक्ष होता है, इसलिए वैदिक शास्त्रों में निषेधात्मक तथा सकारात्मक आदेश पाये जाते हैं। वाणी के विरुद्ध निषेधात्मक आदेश का संगत आदेश होगा कि मनुष्य सदैव कृष्ण के विषय में बातें करे। *सततं कीर्तयन्तो माम्।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ईश्वर के विषय में बातें करे, उनके पवित्र नाम, यश, लीला, परिकर इत्यादि के गुणों का गान करे। *श्रीमद्भागवत* में भी कहा गया है कि *श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण के बारे में श्रवण करे, उनका गुणगान करे, ध्यान करे और पूजा करे। इस अध्याय के श्लोक २१ में कहा गया है कि *शब्दे परे च निष्णातम्।* प्रामाणिक गुरु शब्दे परे अर्थात् आध्यात्मिक जगत का वर्णन करने वाली दिव्य ध्वनि तरंगों में निपुण होता है। कोई व्यक्ति कृत्रिम रूप से विचारशून्य या वाणीशून्य नहीं रह सकता, जैसाकि ध्यान और योग की मनगढ़ंत प्रणालियों के मूर्ख प्रचारक कहते हैं। किन्तु मनुष्य को कृष्ण की प्रेमाभक्ति में इतना लीन रहना चाहिए और कृष्ण की प्रशंसा करने के प्रति इतना आकृष्ट रहना चाहिए कि उसे व्यर्थ की बातें करने के लिए एक क्षण की भी फुर्सत न मिले। *मौनम्* शब्द का यही तात्पर्य है।

स्वाध्यायम् का अर्थ है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार वैदिक साहित्य का अध्ययन करे और अन्यो को भी शिक्षा दे। *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण में ज्ञान तथा विज्ञान के गुण होने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे ग्रंथ पढ़े, जो भगवान् की सेवा करने की उसकी इच्छा को बढ़ाने वाले हों। श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कुछ ही वर्षों में दिव्य ज्ञान का सच्चा पुस्तकालय लिख कर तैयार कर दिया है। यह लगभग विश्व-भर में देखा जा रहा है कि जब इन पुस्तकों में जैसे *श्रीमद्भागवतम्*, *भगवद्गीता* (यथार्थ रूप), *चैतन्य-चरितामृत* और *भक्तिरसामृतसिंधु* में *स्वाध्यायम्* सिद्धान्त लागू किया जाता है, तो निष्ठावान् पाठक में भगवान् की सेवा करने का भावमय संकल्प उदित होता है। सारे विश्व में इस्कॉन का विस्तार इसी दिव्य साहित्य के कारण हो रहा है। *स्वाध्यायम्* न तो

धार्मिक शास्त्रों का काल्पनिक विवेचन है, न ही तथाकथित पण्डित की मिथ्या प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए किसी को अनेक पुस्तकें पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को वे पुस्तकें पढ़नी चाहिए, जो ज्ञान तथा वैराग्य के विषय में व्यावहारिक आध्यात्मिक प्रगति की प्रेरणा दे सकें, जिस प्रकार कि श्रील प्रभुपाद की पुस्तकें देती हैं।

आर्जवम् शब्द सादगी या सरलता का सूचक है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *स्वच्छताम्* इसका पर्याय है। जब तक मनुष्य की चेतना शुद्ध नहीं होगी, तब तक वह अनेक कुटिल साधनों को ग्रहण करेगा। *आर्जवम्* का अर्थ यह नहीं है कि ईमानदारी के नाम पर अन्यो का अपमान किया जाय, अपितु यह कि विनयपूर्ण सत्य कहा जाय। *ब्रह्मचर्यम्* शब्द सूचित करता है कि या तो स्त्री-संग का पूरी तरह परित्याग किया जाय या गृहस्थ जीवन का वैदिक नियमों के अनुसार कठोरता से पालन किया जाय। गृहस्थ जीवन साधु-सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से यौन जीवन को नियमित करने वाला है। *अहिंसाम्* यह सूचित करता है कि किसी जीव के प्रति हिंसा न की जाय। कर्म के नियमों से, जिनके अनुसार मनुष्य सुख-दुख भोगता है, अवगत हुए बिना मनुष्य ठीक से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अन्ततः भौतिक जगत में हिंसा का बोलबाला है और हर प्राणी पर बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु थोपने वाले प्रकृति के नियम स्वयं हिंसा से पूर्ण हैं। इसलिए यदि अन्यो को कृष्ण की शरण लेने और इस तरह उन्हें प्रकृति के कठोर नियमों से छूटने के प्रति आश्वस्त किया जा सके, तो यह अहिंसा की पूर्णता होगी।

समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः यह बतलाते हैं कि विचलित करने वाले भौतिक द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी शान्तचित्त रहा जाय। *भगवद्गीता* में (२.१४) कृष्ण कहते हैं—

मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

“हे कुन्ती-पुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रिय-बोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।”

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी जगह; आत्म—अपनी आत्मा के लिए; ईश्वर—तथा भगवान् के लिए; अन्वीक्षाम्—सतत दृष्टि में रखते हुए ध्यान;
कैवल्यम्—मोक्ष; अनिकेतताम्—जिसका कोई स्थायी घर न हो; विविक्त-चीर—चीथड़े; वसनम्—पहने हुए; सन्तोषम्—
सन्तोष; येन केनचित्—किसी भी वस्तु से।

मनुष्य को चाहिए कि अपने को नित्य आत्मा के रूप में और भगवान् को हर वस्तु का परम नियन्ता देखते हुए ध्यान करे। ध्यान में वृद्धि लाने के लिए वह एकान्त स्थान में रहे और अपने घर तथा घर की सामग्री के प्रति झूठी आसक्ति को त्याग दे। नश्वर शरीर के अलंकरण को त्याग कर, मनुष्य अपने को चीथड़ों से या वृक्षों की छाल से ढके। इस तरह, उसे किसी भी भौतिक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : कैवल्यम् का अर्थ है, एकान्तवास अर्थात् भौतिक उत्पातों से मुक्त स्थान। इसलिए मनुष्य को वैष्णवों की संगति में रहना चाहिए, जहाँ सबका लक्ष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करना रहता है। कलियुग में यदि अन्यो से शारीरिक रूप से विलग रहने का प्रयास किया जाता है, तो उसका परिणाम पतन या पागलपन होता है। अनिकेतताम् का अर्थ है कि मनुष्य को “अपनी प्रिय जन्मभूमि” की क्षणभंगुर तुष्टि से पगलाना नहीं चाहिए, क्योंकि यह किसी भी क्षण पूर्वकर्मों से उत्पन्न अदृश्य कारणों से लुप्त हो सकती है। इस युग में आधुनिक शहरों में, न तो वृक्ष की छाल पहनना सम्भव है, न ही चीथड़ा पहनना। पहले मानव संस्कृति आध्यात्मिक प्रगति के लिए तपस्या करने वालों को अपने में खपा लेती थी। किन्तु इस युग में सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पूरे मानव समाज में भगवद्गीता के सन्देश का प्रचार किया जाय। इसीलिए यह संस्तुति की जाती है कि वैष्णवजन शरीर को सुचारु ढंग से ढकने वाले स्वच्छ वस्त्र धारण करें, जिससे बद्धजीव न तो वैष्णवों की उग्र तपस्या से भयभीत हों, न विकर्षित हों। कलियुग में बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति में अत्यधिक रत रहते हैं और कठोर तपस्या का सम्मान नहीं करते, प्रत्युत शरीर का घृणाजनक निषेधकर्ता माने जाते हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक उन्नति के लिए तपस्या आवश्यक है, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सफल प्रचार के लिए श्रील प्रभुपाद ने जो आदर्श स्थापित किया, वह यह था कि सारी भौतिक वस्तुओं का उपयोग लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर आकृष्ट करने के लिए किया जाय। इसलिए वैष्णवजन समय समय पर कृष्णभावनामृत के वितरण सम्बन्धी उच्च आदर्श का पालन करने हेतु सामान्य वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मनुष्य को

प्रत्येक दशा में किसी भी भौतिक परिस्थिति से तुष्ट रहना सीखना चाहिए, जिससे मृत्यु की तैयारी हो सके। *भगवद्गीता* के अनुसार मृत्यु के समय इस जीवन में हम, जो भी चेतना उत्पन्न कर लेते हैं, वह हमें हमारी भावी स्थिति तक ले जाती है। इसलिए मनुष्य-जीवन एक प्रकार का अभ्यास है, जिसमें मनुष्य मृत्यु के समय कठिन परीक्षा के समय परम सत्य में अपने मन को सफलतापूर्वक टिका सके।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धाम्—श्रद्धा; भागवते—भगवान् से सम्बद्ध; शास्त्रे—शास्त्र में; अनिन्दाम्—निन्दा न करना; अन्यत्र—दूसरे लोग; च—भी; अपि हि—निस्सन्देह; मनः—मन का; वाक्—वाणी; कर्म—तथा मनुष्य के कर्म; दण्डम्—कठोर नियंत्रण; च—तथा; सत्यम्—सच्चाई; शम—मन पर आत्म-नियंत्रण; दमौ—तथा बाह्य इन्द्रियों का; अपि—भी।

मनुष्य को यह अटूट श्रद्धा होनी चाहिए कि उन शास्त्रों का अनुसरण करने से उसे जीवन में पूर्ण सफलता मिलेगी, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के यश का वर्णन करते हैं। इसी के साथ उसे अन्य शास्त्रों की निन्दा करने से अपने को बचाना चाहिए। उसे अपने मन, वाणी तथा शारीरिक कर्मों पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिए, सदैव सच बोलना चाहिए और मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में रखना चाहिए।

तात्पर्य : चैतन्य-चरितामृत (मध्य २२.६२) में श्रद्धा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

‘श्रद्धा’-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।

कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय ॥

“कृष्ण की प्रेमाभक्ति करने पर मनुष्य समस्त गौण कर्मों को अपने आप कर लेता है। भक्ति सम्पन्न करने के लिए अनुकूल दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है।” इस तरह भक्त को आश्वस्त रहना चाहिए कि *भागवत शास्त्र* के आदेशों का जो सीधे तौर पर भगवद्भक्ति का वर्णन करते हैं, पालन करते हुए वह समस्त ज्ञान तथा जीवन-सिद्धि आसानी से प्राप्त कर सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मनोवाक्कायदण्डम्* का अर्थ है *मनसा-वाचिक-कायिक-विकर्म-राहित्यम्*—मन, वाणी तथा शरीर के सारे पापपूर्ण कार्यों का परित्याग। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने बारम्बार सुझाया है, इन्द्रिय-संयम का अर्थ इन्द्रियों के कार्यों को बन्द करके शव बनना नहीं

है, अपितु अपने मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कार्यों को कृष्ण की सेवा में लगाना है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्ण की सेवा में कर्म करते हुए मनुष्य इस जगत में भी मुक्त पुरुष है, भले ही वह अनेक भौतिक कार्यों में क्यों न लगा हो।” (भक्तिरसामृतसिन्धु १.२.१८७) इस तरह मनुष्य *विकर्मराहित्यम्* को प्राप्त होता है अर्थात् चौबीसों घण्टे कृष्ण की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा वाणी लगाने से मनुष्य अवैध पापपूर्ण कार्यों से छुटकारा पा सकता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि केवल वे पुण्यात्मा जो *विकर्मरहित* हैं, अर्थात् पापमय जीवन से पूर्णतया मुक्त हैं, इस भौतिक प्रकृति के मोहमय द्वैत से छुटकारा पा सकते हैं (*समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः*) । भगवान् कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

“जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उन्मूलन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।” (भगवद्गीता ७.२८) इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने कहा है, “इस श्लोक में उन लोगों का उल्लेख है, जो दिव्य-पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जो पापी, नास्तिक, मूर्ख तथा कपटी हैं, उनके लिए इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व को पार कर पाना कठिन है। केवल ऐसे पुरुष भक्ति स्वीकार करके क्रमशः भगवान् के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिन्होंने धर्म के विधि-विधानों का अभ्यास करने में अपना जीवन लगाया है और पुण्यकर्म किए हैं और पापकर्मों को जीता है। फिर वे क्रमशः भगवान् का ध्यान समाधि में कर सकते हैं। आध्यात्मिक पद पर आसीन होने की यही विधि है। ऐसी पद-प्राप्ति शुद्ध भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है, क्योंकि महान् भक्तों की संगति से ही मनुष्य मोह से उबर सकता है।”

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह कथन उद्धृत किया है कि “मनुष्य को दिव्य ग्रंथों में, जैसे कि *श्रीमद्भागवत* तथा भगवान् की महिमा से सम्बन्धित अन्य साहित्य में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसे वैष्णव तंत्रों, मूल वेदों तथा पंचम वेद माने जाने वाले ग्रंथ *महाभारत* में जिसका *भगवद्गीता* एक भाग है, विश्वास होना चाहिए। वैदिक ज्ञान मूलतः विष्णु की श्वास से उत्पन्न हुआ और विष्णु के अवतार श्रील व्यासदेव द्वारा वैदिक साहित्य का संकलन साहित्य-रूप में किया गया। इसलिए भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक साहित्य का वक्ता मानना चाहिए।

अन्य वैदिक ग्रन्थ *कला विद्या* कहलाते हैं, जिनमें भौतिक कलाओं तथा विज्ञानों के विषय में शिक्षाएँ हैं। चूँकि इन समस्त वैदिक कलाओं तथा विज्ञानों का चरम उद्देश्य भगवान् केशव की भक्ति में उनको प्रयुक्त करना है, इसलिए सन्यासियों को ऐसे संसारी साहित्य की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए। चूँकि इन ग्रंथों का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भगवान् से रहता है, इसलिए इनकी निन्दा करने से नरक जाना पड़ सकता है।

“श्रद्धा सूचक है श्रद्धामयी मनोवृत्ति की, जिसे दो प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की श्रद्धा वह दृढ़ संकल्प है कि विविध वैदिक ग्रंथों के सभी कथन सत्य हैं। दूसरे शब्दों में, यह समझना है कि वैदिक ज्ञान अच्युत है, श्रद्धा है। दूसरे प्रकार की श्रद्धा यह विश्वास है कि कोई मनुष्य अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किसी विशेष वैदिक आदेश को स्वयं पूरा करे। इस प्रकार भगवद्भक्त को चाहिए कि विविध *कला-विद्याओं* के प्रति प्रथम प्रकार की श्रद्धा का प्रयोग करे, किन्तु ऐसे शास्त्रों को अपने निजी जीवन-लक्ष्य का निर्देशक न माने। न ही वह किसी ऐसे वैदिक आदेश का पालन करे, जो *पञ्चरात्र* जैसे वैष्णव शास्त्रों के आदेशों के विरुद्ध हो।

“इस तरह मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का वर्णन करने वाले समस्त वैदिक साहित्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करे और उसके किसी भी अंश की निन्दा न करे। किसी भी वैदिक साहित्य की निन्दा से ब्रह्मा से लेकर वृक्ष एवं पत्थर की जड़ योनियों तक के हर प्राणी को अज्ञान के अंधकार में गिर जाना होता है। इस तरह *सुरों* अर्थात् देवताओं या कि महर्षियों तथा भगवद्भक्तों को समझना चाहिए कि पञ्चरात्रिक ग्रंथ, चारों वेद, मूल *रामायण*, *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य पुराण एवं *महाभारत*—ये सभी वैदिक साहित्य हैं, जो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हैं और भगवद्भक्तों की आध्यात्मिक

प्रगति के अनुसार उनके अद्वितीय दिव्य पद को बतलाने वाले हैं। वैदिक साहित्य के प्रति अन्य कोई दृष्टिकोण मोह माना जायेगा। किसी भी धार्मिक शास्त्र का चरम लक्ष्य यह समझना है कि भगवान् हर एक के नियन्ता हैं और भगवद्भक्त उनसे भिन्न नहीं हैं यद्यपि ऐसे भगवद्भक्तों को उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तर के अनुसार मानना चाहिए।”

भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो। वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्—* समस्त वेदों से मुझे ही जानना चाहिए, मैं वेदान्त का रचयिता हूँ और वेदों का ज्ञाता हूँ। इसी प्रकार वे कहते हैं (*भगवद्गीता १५.१८*)—

यस्मात् क्षरमातीतोऽहम् अक्षरादपिचोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

“चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों से परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।”

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि प्रामाणिक वैष्णव गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना पिछले श्लोकों में वर्णित दैवी गुणों को उत्पन्न कर पाना कठिन है। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।* इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत् तु यः ।

न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥

“जो व्यक्ति भगवान् गोविन्द की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्तों की पूजा नहीं करता, उसे भगवद्भक्त नहीं, अपितु मिथ्या अहंकार से ग्रस्त समझना चाहिए।” जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भगवान् की पूजा करना बहुत सरल हो जाता है।

ऐसे शरणागत के लिए कृत्रिम तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *नारद पञ्चरात्र* से निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।

अन्तर्बहिरीदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

“यदि कोई भगवान् हरि की पूजा करता है, तो फिर बाह्य तपस्या करने से क्या लाभ? और यदि कोई भगवान् हरि को नहीं पूजता तो ऐसी तपस्या उसे बचा नहीं सकती। यदि कोई यह समझ लेता है कि हरि अन्दर तथा बाहर सर्वव्यापक हैं, तो फिर तपस्या करने की आवश्यकता क्या है? और यदि कोई यह नहीं समझ सकता कि हरि सर्वव्यापक हैं, तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ है।” एक वैष्णव कृष्ण की भक्ति करने में सदैव संलग्न रहता है। यदि किसी भक्त को अपनी तपस्या का मिथ्या गर्व हो जाता है और यदि वह कृष्ण की सेवा न करके भौतिक वस्तुओं को स्वीकार तथा अस्वीकार करने में मन लगाता है, तो उसकी तथाकथित तपस्या भक्ति के मार्ग में अवरोध बन जाती है।

भक्त को उन लोगों के वाग्जाल से विचलित नहीं होना चाहिए जो भगवद्भक्ति के विरुद्ध रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दो-टूक शब्दों में कहा है कि जीवन की अन्तिम सिद्धि पाने का एकमात्र साधन भगवान् के चरणकमलों की भक्ति है। इसलिए वैष्णव को *मौनम्* का अभ्यास करना चाहिए और उसे मायावादी साहित्य जो मिथ्या तर्कों से भरा पड़ा है तथा कर्मकाण्ड साहित्य जिनसे धार्मिक जीवन के नाम पर इन्द्रिय-तृप्ति को बढ़ावा मिलता है, इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। यदि आत्म-साक्षात्कार में तुरन्त सफलता न मिलने से कोई व्यक्ति दुखी रहता है अथवा यदि कोई इन्द्रिय-तृप्ति से मोहग्रस्त हो जाता है और भौतिकतावादी पुरुषों तथा सिद्धान्तों की शरण में जाने का प्रयास करता है, तो उसकी भक्ति की प्रगति तुरन्त रुक जायेगी। इसी तरह यदि कोई भक्त कृष्ण से भिन्न वस्तुओं के प्रति प्रेमव्यक्त करता है या भक्ति की विधि अथवा *भगवद्गीता* के दर्शन में त्रुटियाँ निकालता है, जिससे वह कृष्ण से पृथक् वस्तुओं को देख कर इन्द्रियतृप्ति में लीन होने को उचित सिद्ध कर सके, तो आध्यात्मिक प्रकाश मिलने में उसे कठिनाई होगी। ऐसी मोहमयी विचारधारा *द्वितीयाभिनिवेश* अर्थात् मोह में तल्लीनता कहलाती है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति वैष्णव परम्परा से स्वीकृत वैदिक ध्वनि के प्रति आकृष्ट होता है और *कृष्ण-नाम-कीर्तन* में उत्साहपूर्वक लग जाता है, तो उसका मौन अभ्यास पूर्ण है।

प्रजल्प अर्थात् भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली व्यर्थ की मनमानी बातों से बचना चाहिए। भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा गायन के बिना दिखावटी रूप में इन्द्रिय-संयम रखना आध्यात्मिक सिद्धि

नहीं माना जा सकता। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि गोशाला के बहुत-से पालतू पशुओं को एक-दूसरे से विलग करके उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कराया जाता है, किन्तु ऐसे पशुओं को ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। इसी तरह केवल शुष्क मनमाने तर्कों तथा क्षणिक तपस्या के आधार पर किसी को आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा नहीं माना जा सकता। उसे विनीत भाव से वैदिक ध्वनि के सन्देश को, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सार रूप में दिया है, सुनना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि व्यक्ति बौद्धों तथा जैनों के नास्तिक दर्शनों के प्रति आकृष्ट हो जाता है, जिनमें अहिंसा जैसे संसारी सिद्धान्त का गुणगान हुआ है, तो ईश्वरविहीन नीति-शास्त्र में उसकी श्रद्धा आत्मघाती है। कृत्रिम तपस्या द्वारा इन्द्रियों को वश में करना और सामूहिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए विशाल सामाजिक आयोजन करना, दोनों ही मानव-समाज को कृत्रिम रूप से नियमित करने का ईश्वरविहीन प्रयास है, जिससे समाज के प्राकृतिक नेता भगवान् के साथ हर व्यक्ति का नित्य सम्बन्ध छिप जाता है। जब तथाकथित नैतिक दार्शनिक मानव-जीवन के कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने के अवसर को नष्ट कर देते हैं, तो ऐसे मूर्ख व्यक्ति नीति के नाम पर मानव समाज पर सबसे बड़ी हिंसा करते हैं। इसीलिए कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने कहा है—

श्रीकृष्णचैतन्य-दया करह विचार।

विचार करिले चित्ते पाबे चमत्कार ॥

“यदि आप सचमुच ही तर्क-शास्त्र में रुचि रखते हैं, तो उनका उपयोग श्री चैतन्य महाप्रभु की दया में कीजिए। यदि आप ऐसा करेंगे, तो आप देखेंगे कि ऐसी दया अतीव अद्भुत है।” (चैतन्य चरितामृत, आदि ८.१५)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *महाभागवत* वह है, जो केवल इतना ही नहीं देखता कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही भगवान् कृष्ण के अंश होने के कारण उनसे अभिन्न हैं, अपितु जो यह भी देखता है कि ब्रजेन्द्र-नन्दन कृष्ण अपने सर्व-आकर्षण के अद्वितीय गुण के कारण अपने को सदैव पृथक् रखते हैं। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अनिकेतन*—अर्थात् स्थायी

आवास से विहीन होता है, जिसका भाव यह है कि वह न तो स्थूल शरीर को, न ही सूक्ष्म शरीर को अपना नित्य आवास मानता है। चूँकि मनुष्य का तथाकथित घर तथा परिवार उसके शरीर के ही अंश होते हैं, इसलिए ऐसी भौतिक सृष्टियों को भी किसी का वास्तविक आवास नहीं माना जाना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं माम् विषमे भवाम्बुधौ ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलिसदृशं विचिन्तय ॥

“हे महाराज नन्द के पुत्र, कृष्ण! मैं आपका नित्य सेवक हूँ फिर भी मैं जन्म तथा मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस मृत्यु-सागर से उठा लें और अपने चरणकमलों में धूलिकण के रूप में स्थान दे दें।” (शिक्षाष्टक ५) इस तरह भक्त को समझना चाहिए कि उसका नित्य आवास भगवान् के चरणकमलों की धूलि में स्थित है। वैष्णव को सतोगुण के जंगल, रजोगुण के शहर या तमोगुण के जुआ-घर में रहने की स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति को टुकरा देना चाहिए। शुद्ध भक्त पूरे संसार में कृष्णभावनामृत का वितरण करते हुए यात्रा कर सकता है, किन्तु उसे किसी भौतिक स्थान को अपना वास्तविक आवास नहीं समझना चाहिए। जो इस ज्ञान में परिपक्व हो चुका हो, उसे भगवान् की शरण में *त्रिदण्डसंन्यास* धारण कर लेना चाहिए।

निर्विशेषवादी यह नहीं समझ सकता कि भगवद्भक्त किस तरह समस्त जगत को भगवान् से अभिन्न देखता है, जबकि वह स्वयं को भगवान् से नित्य भिन्न देखने की द्वैत-भावना में स्थिर है। जो लोग निर्विशेष चिन्तन द्वारा भौतिक विराट जगत के अपने तुच्छ अनुभव पर आधारित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, वे *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* की दिव्य वास्तविकता को नहीं समझ सकते। इस दिव्य ज्ञान को आत्मसात् करने की विधि *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत* से प्रारम्भ होने वाले श्लोकों में दी गई है। मनुष्य के लिए यह संस्तुति की गई है कि वह प्रामाणिक गुरु बनाकर इन श्लोकों में दिये हुए निर्देशों के अनुसार उसकी सेवा करे। ऐसे आदेशों का सार यह है कि मनुष्य मायावादियों, सकाम कर्मियों तथा जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति उदास रहने वालों का संग त्याग दे और भगवान् के भक्तों की संगति करे। मिथ्या गर्वित नवदीक्षित भक्त भगवान् के अनुयायियों की संगति न करने से अपने आपको

भगवान् का बहुत बड़ा भक्त मान सकता है, किन्तु ऐसी संगति के बिना कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।

जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७ ॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।

दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; ध्यानम्—तथा ध्यान करना; हरेः—भगवान् हरि के; अद्भुत-कर्मणः—जिनके कार्यकलाप अद्भुत हैं; जन्म—उसके अवतारों; कर्म—लीलाओं; गुणानाम्—गुणों के; च—तथा; तत्-अर्थ—उसके निमित्त; अखिल—समस्त; चेष्टितम्—प्रयास; इष्टम्—जो भी पूजा की जाती है; दत्तम्—जो भी दान; तपः—तपस्या; जप्तम्—जो भी मंत्र जपता है; वृत्तम्—पुण्यकर्म; यत्—जो; च—भी; आत्मनः—अपने लिए; प्रियम्—प्रिय; दारान्—पत्नी; सुतान्—पुत्रों; गृहान्—घर; प्राणान्—प्राण; यत्—जो; परस्मै—ब्रह्म को; निवेदनम्—भेंट।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के अद्भुत दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुने, उनका गुणगान करे और ध्यान करे। उसे विशेष रूप से भगवान् के प्राकट्यों, कार्यकलापों, गुणों तथा पवित्र नामों में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार प्रेरित होकर उसे अपने नैतिक समस्त कार्य भगवान् को अर्पित करते हुए सम्पन्न करने चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि केवल भगवान् की तुष्टि के लिए ही यज्ञ, दान तथा तप करे। इसी तरह वह केवल उन्हीं मंत्रों का उच्चारण करे, जो भगवान् की महिमा का गायन करते हों। उसके सारे धार्मिक कृत्य भगवान् की भेंट के रूप में सम्पन्न हों। उसे जो भी वस्तु अच्छी या भोग्य लगे, उसे वह तुरन्त भगवान् को अर्पित कर दे। यहाँ तक कि वह अपनी पत्नी, बच्चे, घर तथा अपने प्राण भी भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर दे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.२७) में भगवान् कृष्ण ने आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे भेंट स्वरूप दो।” श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है, “इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि

वह किसी भी दशा में कृष्ण को भूल न पाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ यह आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है। अतः उसे चाहिए कि वह कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट ग्रहण करे। किसी भी सभ्य व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अतः कृष्ण की संस्तुति है, “इसे मेरे हेतु करे, यही अर्चन है।” प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अतः कृष्ण कहते हैं, “यह मुझे दो,” जिसका अर्थ है कि फालतू बचे हुए धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान-विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण का जाप अपनी माला में करे, तो वह निश्चित रूप से महानतम योगी है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता के छठे अध्याय में की गई है।”

अनेक व्यक्ति, जो कृष्ण-भक्ति की ओर आकृष्ट होते हैं, वे अपने पूर्वकर्मों द्वारा संचित भौतिक सम्पत्ति, यश या निपुणता द्वारा मोहग्रस्त होते रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ये दोनों श्लोक यह सूचित करते हैं कि पूर्वकर्म द्वारा किसी के संचित भौतिक ऐश्वर्य का उपयोग भगवान् को भेंटरूप में होना चाहिए। अपनी कीर्ति, शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि का उपयोग भगवान् के मिशन को पूरा करने में करना चाहिए। कभी कभी ईर्ष्यालु भौतिकतावादी यह प्रश्न करते हैं कि कोई अपनी सम्पत्ति तथा शिक्षा को भगवान् की सेवा में लगाकर क्यों व्यर्थ जाने दे, जबकि इनका उपयोग नश्वर शरीर की तुष्टि के हेतु इससे अच्छे ढंग से किया जा सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि हमारे पास इस शरीर सहित जो कुछ भी है, वह अन्ततोगत्वा भगवान् की सम्पत्ति है, जो कि समस्त ब्रह्माण्ड का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। इसलिए अपने तथाकथित ऐश्वर्य को भगवान् की भक्ति में लगाकर धन्य हो जाना चाहिए। अन्यथा जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् मृत्यु के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होकर हमारा सबकुछ जबरदस्ती ले लेंगे। इसलिए ऐसी सम्पत्ति को जीवित रहते शान्तिपूर्वक भगवान् के चरणकमलों पर भेंट कर देना चाहिए, ताकि हम इस भेंट का पुण्य फल भोग सकें।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *तपः* का अर्थ है कि एकादशी जैसे व्रत रखे जाँय, जिनमें मनुष्य अन्न तथा बीज-फलियाँ मास में दो बार नहीं खाता। *जपम्* शब्द द्योतक है भगवान् के

नामों के उच्चारण का यथा हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि मनुष्य अपने परिवार को भगवद्भक्त बनाकर अपनी पत्नी, पुत्र तथा घर भगवान् को अर्पित कर दे। तथाकाथित पद की खोज में गर्वित न रह कर परिवार को यह समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाय कि वे भगवान् के नित्य दास हैं। और जब पूरा परिवार भगवान् की सेवा में दत्तचित्त रहता है, तो अतीव उत्तम स्थिति उत्पन्न होती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह इंगित किया है कि यदि मनुष्य को *भागवत धर्म* में दीक्षित नहीं किया जाता, तो वह अपनी स्थूल इन्द्रियों से प्राप्त अनिश्चित ज्ञान पर निर्भर रहेगा। भगवान् के प्राकट्यों, लीलाओं तथा असंख्य दिव्य गुणों के उदात्त वर्णनों से उदासीन रह कर श्रद्धाहीन भौतिकतावादी व्यक्ति संसारी भोग के मंच पर विचरण करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की वास्तविकता को समझ लेता है, जैसाकि प्रामाणिक वैदिक साहित्य में उनका वर्णन हुआ है, तो उसे *त्रिदण्डसंन्यास* स्वीकार कर लेना चाहिए या कम से कम शरीर, मन तथा वाणी पर संयम का अभ्यास करना चाहिए और इस तरह आत्मसंयमी होना चाहिए तथा परम सत्य में स्थिर हो जाना चाहिए। तब उसकी सारी इच्छाएँ, उसका दिया हुआ सारा दान तथा उसकी सारी तपस्या एवं मंत्रों का उच्चारण—दूसरे शब्दों में उसका सारा व्यक्तित्व, घर, सन्तान, पत्नी और प्राण तक—भगवान् के प्रति हार्दिक भेंट बन जाते हैं। जब जीव भगवान् के प्रामाणिक विवरणों का निरन्तर श्रवण करता है और दूसरे कार्यकलापों से बच कर अपने सारे कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो उसे *भागवत धर्म* के मंच पर स्थिर माना जाता है।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।

परिचर्या चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; कृष्ण-आत्म-नाथेषु—जो लोग कृष्ण को अपनी आत्मा का स्वामी मानते हैं, उन; मनुष्येषु—मनुष्यों के लिए; च—तथा; सौहृदम्—मैत्री; परिचर्याम्—सेवा; च—तथा; उभयत्र—(चर तथा अचर अथवा भगवान् तथा उनके भक्त) दोनों के प्रति की गई; महत्सु—(विशेषतया) भगवद्भक्तों में से; नृषु—मनुष्यों में से; साधुषु—सन्त आचरण वालों में से।

जो अपने चरम स्वार्थ का इच्छुक है, उसे उन व्यक्तियों से मैत्री करनी चाहिए, जिन्होंने कृष्ण को अपना जीवन-नाथ मान लिया है। उसे समस्त जीवों के प्रति सेवाभाव भी उत्पन्न करना

चाहिए। उसे मनुष्य-रूप में पैदा हुए लोगों की और इनमें से विशेष रूप से उनकी सहायता करनी चाहिए, जो धार्मिक आचरण के सिद्धान्त को अपनाते हैं। धार्मिक व्यक्तियों में से भगवान् के शुद्ध भक्तों की सेवा की जानी चाहिए।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भगवद्भक्तों का सर्वोपरि कर्तव्य है उन लोगों के साथ मैत्री स्थापित करना, जो पूर्ण रूप से कृष्ण के शरणागत हैं और इस तरह जिन्होंने शरणागति प्राप्त कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् तथा उनके भक्त दोनों की सेवा करे, क्योंकि अपने शुद्ध भक्तों की सेवा किये जाने से भगवान् अधिक प्रसन्न होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल औपचारिक तौर पर भगवान्, उनके भक्तों तथा उनकी पूज्य साज-सामग्री को नमस्कार करे, अपितु वह वास्तव में भगवान् के प्रतिनिधियों की सेवा करे, जो महाभागवत कहलाते हैं।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।

मिथो रतिमिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

परस्पर—एक-दूसरे से; अनुकथनम्—विचार-विमर्श; पावनम्—पवित्रकारी; भगवत्—भगवान् की; यशः—कीर्ति; मिथः—परस्पर; रतिः—प्रेमाकर्षण; मिथः—परस्पर; तुष्टिः—तुष्टि; निवृत्तिः—भौतिक कष्टों की समाप्ति; मिथः—परस्पर; आत्मनः—आत्मा का।

मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों के साथ एकत्र होकर भगवान् की महिमा-गायन के लिए उनकी संगति करना सीखे। यह विधि अत्यन्त शुद्ध बनाने वाली है। ज्योंही भक्तगण इस प्रकार प्रेमपूर्ण मैत्री स्थापित कर लेते हैं, त्योंही उन्हें परस्पर सुख तथा तुष्टि का अनुभव होता है। इस प्रकार एक-दूसरे को प्रोत्साहित करके, वे उस भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को त्यागने में सक्षम होते हैं, जो समस्त कष्टों का कारण है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार जो लोग कृष्णभावनामृत में उन्नत हैं, उन्हें चाहिए कि वे न तो परस्पर ईर्ष्या करें, न झगड़ें। ऐसी संसारी भावनाएँ त्याग कर, उन्हें एक स्थान पर एकत्र होना चाहिए और परस्पर शुद्धि के लिए भगवान् के यश का गायन करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का महिमा-गायन शुद्ध भक्तों की संगति में सम्पन्न होने पर विशेष रूप से शक्तिशाली होता है। जब भक्तगण संकीर्तन में संलग्न रहते हैं और भगवत् महिमा का गायन इकट्ठे मिल कर करते हैं, तो उन्हें सर्वोच्च आनन्द तथा तुष्टि मिलती है। इस तरह वे एक-दूसरे को उस

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का परित्याग करने के लिए प्रेरित करते हैं, जो स्त्रियों के साथ अवैध भोग-विलास करने पर आधारित होती है। एक भक्त दूसरे से कहता है, “ओह! आपने तो इन्द्रिय तृप्ति छोड़ दी है। आज से मैं भी इसको छोड़े देता हूँ।”

मनुष्य को भक्तों के प्रति प्रेम बढ़ाना, उन्हें तुष्ट करना तथा कृष्ण-सेवा के प्रतिकूल इन्द्रिय-विषयों का परित्याग करना सीखना चाहिए। यही नहीं उसे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की सेवा के लिए साज-सामग्री के रूप में देखना सीखना चाहिए। इन्द्रिय-विषयों को कृष्ण की सेवा में लगाने से मनुष्य स्वतः इन सबों से विरक्त हो जाता है। ज्यों ज्यों वह भगवद्भक्तों की संगति में अपने दिन बिताता है, उसका दिव्य आनन्द श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता के वृत्तान्त और उनकी चर्चाएँ सुन कर बढ़ता जाता है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय-तृप्ति के रूप में माया के उत्पीड़न से छूटना चाहता है, उसे उन शुद्ध भगवद्भक्तों की निरन्तर संगति करनी चाहिए, जिनके पास भगवान् के यशोगान तथा श्रवण और इस धरा पर उनके मिशन को पूरा करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं है।

श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि जिस तरह मनुष्य को भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए, उसी तरह उसे देवताओं की ओर मैत्री की भावना का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि देवगण ब्रह्माण्ड का भगवान् की ओर से संचालन करते हैं। इस तरह मनुष्य को इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; स्मारयन्तः च—तथा स्मरण दिलाते हुए; मिथः—परस्पर; अघ-ओघ-हरम्—भक्त से समस्त अशुभ वस्तुओं को ले लेने वाला; हरिम्—भगवान् को; भक्त्या—भक्ति द्वारा; सञ्जातया—जगाया हुआ; भक्त्या—भक्ति द्वारा; बिभ्रति—धारण करते हैं; उत्पुलकाम्—पुलकायमान; तनुम्—शरीर को।

भगवद्भक्तगण परस्पर भगवान् की महिमा का निरन्तर बखान करते हैं। इस प्रकार वे निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हैं और एक-दूसरे को उनके गुणों तथा लीलाओं का स्मरण कराते हैं। इस तरह से भक्तियोग के नियमों के प्रति अपनी अनुरक्ति से भक्तगण भगवान् को प्रसन्न करते हैं, जो उनके सारे अशुभों को हर लेते हैं। समस्त व्यवधानों से शुद्ध होकर भक्तगण

शुद्ध भगवत्प्रेम जगा लेते हैं और इस प्रकार इस जगत में रहते हुए भी उनके आध्यात्मीकृत शरीरों में दिव्य आनन्द (भाव) के लक्षण—यथा रोमांच—प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : अघौघहरम् शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। अघ द्योतक है अशुभ या पापमय का। जीव वस्तुतः सच्चिदानन्द विग्रह है, किन्तु भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की उपेक्षा करके वह पापकर्म करता है और भौतिक कष्ट के रूप में अशुभ फल भोगता है। पापकर्मों की शृंखला ओघ कहलाती है। कृष्ण अघौघहरं हरिम् हैं। वे अपने भक्तों के पापकर्मों को हर लेते हैं, जो इस तरह इस जगत में रहते हुए भी भगवद्धाम के अचिन्त्य आनन्द का अनुभव करने के अधिकारी हो जाते हैं।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या शब्द यह सूचित करते हैं कि भक्तियोग के दो विभाग हैं—साधन भक्ति तथा रागानुग भक्ति। श्रील प्रभुपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु नामक पुस्तक में साधन भक्ति अर्थात् विधिविधान के पालन से रागानुग भक्ति अर्थात् भगवत् प्रेम में की गई सेवा तक भक्त के पहुँचने की विस्तार से व्याख्या की है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार मुक्त जीव अपने शरीर के भीतर दिव्य भाव प्रकट होने के कारण सदैव प्रोत्साहित रहता है। इस तरह वह भगवान् हरि के गुणों का गान करते हुए भावविभोर रहने की आकांक्षा करता है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-

द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं

भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रुदन्ति—रोते हैं; अच्युत—अच्युत भगवान् के; चिन्तया—विचार से; क्वचित्—कभी; हसन्ति—हँसते हैं; नन्दन्ति—अतीव आनन्द लेते हैं; वदन्ति—बोलते हैं; अलौकिकाः—आश्चर्यजनक रीति से अभिनय करते हुए; नृत्यन्ति—नाचते हैं; गायन्ति—गाते हैं; अनुशीलयन्ति—तथा अनुकरण करते हैं; अजम्—अजन्मा; भवन्ति—बन जाते हैं; तूष्णीम्—मौन; परम्—ब्रह्म; एत्य—प्राप्त करके; निर्वृताः—दुख से मुक्त।

भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेने पर भक्तगण अच्युत भगवान् के विचार में मग्न होकर कभी जोर से निनाद हैं। कभी हँसते हैं, कभी अगाध आनन्द का अनुभव करते हैं, भगवान् से जोर से बातें करते हैं, नाचते या गाते हैं। ऐसे भक्तगण दिव्य भौतिक बद्धजीव की अवस्था को लाँघकर कभी कभी अजन्मा परमेश्वर की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और कभी उनका दर्शन पाकर वे शान्त एवं मौन हो जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवत्प्रेम के लक्षणों की विवेचना की है। *रुदन्ति:* भक्तगण यह सोचकर चिल्लाते हैं कि “एक दिन और बीत गया किन्तु मुझे कृष्ण नहीं मिले। तो फिर मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ और कृष्ण तक पहुँचने में संभवतः कौन मेरी सहायता कर सकता है?” *हसन्ति:* रात काफी बीत चुकी है, आकाश में अंधकार छाया है और कृष्ण किसी वृद्धा गोपी के घर से चुराने की घात में हैं। वे किसी ग्वाले के आँगन के एक कोने में वृक्ष के नीचे छिपे हैं। यद्यपि कृष्ण सोचते हैं कि वे पूरी तरह छिपे हैं, किन्तु परिवार के किसी वृद्धजन की सहसा आवाज सुनते हैं, “तुम कौन हो? तुम हो कौन? मैं पूछता हूँ।” इस तरह कृष्ण पकड़े जाते हैं और वे आँगन से भागने लगते हैं। जब यह हँसी से युक्त दृश्य भक्त के समक्ष प्रकट होता है, तो वह जी-भरकर हँसता है। *नन्दन्ति:* जब कृष्ण अपना दिव्य रूप भक्त को दिखलाते हैं, तो उसे सर्वोच्च दिव्य आनन्द मिलता है। *वदन्ति:* भक्तगण भगवान् से कहते हैं, “हे कृष्ण! मैंने कितने दिनों के बाद आज तुम्हें पा ही लिया!”

जब भक्त की सारी इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण में लीन हो जाती हैं, तो भक्त इस भव-सागर को सफलतापूर्वक पार कर जाता है। इसका संकेत *अलौकिका:* शब्द द्वारा हुआ है। *अलौकिका:* या दिव्य पद की व्याख्या *भगवद्गीता* (१४.२६) में मिलती है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो समस्त परिस्थितियों में एकान्त भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है और किसी भी परिस्थिति में गिरता नहीं, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।”

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *अजं हरिम्, अनुशीलयन्ति तल्लीलामभिनयन्ति*। “*अनुशीलयन्ति* यह सूचित करता है कि भक्तगण कभी कभी परम आनन्दित होकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं।” यह भाव-लक्षण गोपियों द्वारा कृष्ण की अनुपस्थिति में वृन्दावन में प्रकट हुआ था।

इस अध्याय के २१वें श्लोक में यह कहा गया था कि जिसने यह समझ लिया है कि पृथ्वी पर या भौतिक स्वर्ग में कोई सुख नहीं है, उसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में शरण लेनी चाहिए। *तस्माद्*

गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । उसके बाद के श्लोकों में प्रामाणिक शिष्य के कार्यों के सम्बन्ध में कई विस्तृत आदेश दिये गये। अब इस श्लोक में भक्ति के पक्व फल—शुद्ध भगवत्प्रेम—का वर्णन हुआ है। हर व्यक्ति को कृष्ण के प्रतिनिधि की चरण-धूलि सिर पर धारण करने पर यह दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। उसे ईर्ष्या तथा मिथ्या प्रतिष्ठा की मनोवृत्ति त्याग कर भगवान् की कृपा की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु को भगवत्कृपा का अवतार मानना चाहिए। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जो निष्ठावान व्यक्ति अपने प्रामाणिक गुरु की सेवा करता है, उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि (श्रेय उत्तमम्) प्राप्त होगी। भगवद्धाम में वह दिव्य आनन्द तथा ज्ञान का भोग करेगा।

इति भागवतान्धर्मान्शिखभक्त्या तदुत्थया ।

नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतान् धर्मान्—भक्ति के विज्ञान को; शिखन्—अध्ययन करते हुए; भक्त्या—भक्ति द्वारा; तत्-उत्थया—इससे उत्पन्न; नारायण-परः—भगवान् नारायण में समर्पित; मायाम्—माया को; अञ्जः—सरलता से; तरति—पार कर जाता है; दुस्तराम्—लाँघ पाना कठिन।

इस तरह भक्ति-विज्ञान को सीख कर तथा भगवद्भक्ति में व्यावहारिक रूप से संलग्न रह कर भक्त भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है। और भगवान् नारायण की पूर्ण भक्ति द्वारा भक्त सरलता से उस माया को पार कर लेता है, जिसे लाँघ पाना अत्यन्त ही कठिन है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने संकेत किया है कि इस श्लोक में जिस मुक्ति का वर्णन मायाम् अञ्जस् तरति दुस्तराम् शब्दों द्वारा हुआ है, वह वास्तव में शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है। श्रीमद्भागवतम् के द्वितीय श्लोक में यह इंगित हुआ है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां ।

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ॥

श्रीमद्भागवत भक्ति-विज्ञान को सिखाता है, जिसमें चरम लक्ष्य शुद्ध भगवत्प्रेम होता है। वैष्णव आचार्यों के अनुसार, मुक्ति भगवत्प्रेम का गौण फल है। शिवदम् तापत्रयोन्मूलनम् मनुष्य को मुक्ति के लिए भगवान् के पास नहीं पहुँचना चाहिए क्योंकि भगवान् का आदेश पालन करने से वह स्वतः मुक्त हो जाता है। कृष्ण का आदेश भगवद्गीता के अन्त में दिया हुआ है : सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । हर जीव को अपनी संसारी विचारधारा त्याग कर भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

इस आदेश का पालन करने वाले को भगवान् स्वयमेव मुक्ति प्रदान करते हैं। वास्तविक सुख किसी मानसिक चिन्तन या सकाम इच्छा के रंचमात्र के बिना प्रेमी ईश्वर से प्राप्त होता है।

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

“मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या काल्पनिक ज्ञान द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। इसे ही शुद्ध भक्ति कहते हैं।” (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) इस तरह यहाँ पर वर्णित माया के दुर्लभ्य समुद्र को पार करना भागवत धर्म का मुख्य फल नहीं है, अपितु शुद्ध भगवत्प्रेम का गौण फल है।

श्रीराजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

निष्णामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; नारायण-अभिधानस्य—नारायण नामक भगवान् का; ब्रह्मणः—परब्रह्म का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; निष्णाम्—दिव्य स्थिति; अर्हथ—कृपया; नः—हमसे; वक्तुम्—कहें; यूयम्—आप सभी; हि—निस्सन्देह; ब्रह्म-वित्-तमाः—ब्रह्म के परम दक्ष ज्ञाता।

राजा निमि ने कहा : अतः कृपा करके मुझे उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को बतलायें, जो साक्षात् परब्रह्म तथा हर एक के परमात्मा हैं। आप मुझसे कहें, क्योंकि आप सभी जन दिव्य ज्ञान में परम निष्णात हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, पिछले श्लोक में मुनियों ने राजा को बतलाया कि नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्—भगवान् नारायण की शुद्ध भक्ति से ही माया के सागर को सरलता से पार किया जा सकता है। इसलिए इस श्लोक में राजा भगवान् नारायण के विषय में उनसे विशेष जानकारी चाहता है। इस श्लोक की महत्वपूर्ण बात यह है कि राजा ने भगवान् के लिए नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा का प्रयोग किया है। यद्यपि राजा निमि को भगवद्भक्त माना जाता है, किन्तु वह अपने प्रश्न द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि भगवान् सर्वोच्च दिव्य-सत्य हैं। भागवत (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते ॥

“विद्वान् अध्यात्मवादीजन, जिन्हें परब्रह्म का ज्ञान है, इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कह कर पुकारते हैं।” इसलिए इस श्लोक में आये नारायण शब्द से वैकुण्ठवासी परमेश्वर के भगवान् रूप को ही समझना चाहिए।

सामान्य रूप से काल्पनिक ज्ञानीजन परब्रह्म के निर्विशेष ब्रह्म रूप के प्रति आकृष्ट रहते हैं, जबकि योगीजन परमात्मा का ध्यान करते हैं, जो हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं। दूसरी ओर, जिन्हें परिपक्व दिव्य ज्ञान प्राप्त हो चुका है, वे सीधे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, जो अपने धाम वैकुण्ठ धाम में नित्य निवास करते हैं। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्—मैं निर्विशेष ब्रह्म का स्रोत हूँ। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि क्षीरोदकशायी विष्णु, जो कि परमात्मा हैं, वे भगवान् कृष्ण के गौण स्वांश हैं। राजा निमि मुनियों से स्पष्ट कराना चाहते हैं कि भगवान् परब्रह्म के आदि स्वरूप हैं। इसलिए वे अपना यह प्रश्न नौ योगेन्द्रों में से पिप्पलायन के समक्ष रखते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार निष्ठा शब्द का भावार्थ “दृढ़ विश्वास” के रूप में भी किया जा सकता है। इस अर्थ में, निमि महाराज भगवान् में पूर्ण श्रद्धा (भगवन्निष्ठा) उत्पन्न करने की विधि के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीपिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य

यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन

सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-पिप्पलायन: उवाच—श्री पिप्पलायन ने कहा; स्थिति—सृजन; उद्भव—पालन; प्रलय—तथा संहार; हेतु:—कारण; अहेतु:—बिना कारण के; अस्य—इस भौतिक ब्रह्माण्ड का; यत्—जो; स्वप्न—स्वप्न; जागर—जागृति; सुषुप्तिषु—गहरी निद्रा या अचेतनावस्था में; सत्—जो विद्यमान है; बहि: च—तथा इनसे बाहर; देह—जीवों के भौतिक शरीरों की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आसु—प्राण-वायु; हृदयानि—तथा मन; चरन्ति—कार्य करते हैं; येन—जिससे; सञ्जीवितानि—जीवन प्रदत्त; तत्—वह; अवेहि—जानो; परम्—ब्रह्म रूप में; नर-इन्द्र—हे राजा।

श्री पिप्पलायन ने कहा : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के कारण हैं, फिर भी उनका कोई पूर्व कारण नहीं है। वे जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति जैसी

विविध अवस्थाओं में व्याप्त रहते हैं और इनसे परे भी विद्यमान हैं। वे हर जीव के शरीर में परमात्मा रूप में प्रवेश करके शरीर, प्राण-वायु तथा मानसिक क्रियाओं को जागृत करते हैं, जिससे शरीर के सभी सूक्ष्म तथा स्थूल अंग अपने अपने कार्य शुरू कर देते हैं। हे राजन्, यह जान लें कि भगवान् सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में राजा निमि ने परब्रह्म के विविध पक्षों—नारायण, ब्रह्म तथा परमात्मा—के विषय में प्रश्न किया था। अब श्री पिप्पलायन मुनि परब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों का उसी क्रम से वर्णन कर रहे हैं, जिस क्रम में राजा ने उनका उल्लेख किया था। *स्थित्युद्भवप्रलय हेतुः* भगवान् का सूचक है, जो तीन पुरुष अवतारों के रूप में अपना विस्तार करते हैं—ये हैं महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। जैसाकि *भागवत* (१.३.१) में वर्णन आया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥

“सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुरुष अवतार का विराट रूप धारण किया और सृष्टि के समस्त अवयवों को प्रकट किया। इस प्रकार सर्वप्रथम सोलह तत्त्वों की सृष्टि हुई। ऐसा भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के लिए हुआ।” इस प्रकार यहाँ पर भगवान् नारायण का उल्लेख *हेतुः* रूप में अर्थात् सृष्टि, पालन तथा संहार के परम कारण के रूप में हुआ है। तो भी भगवान् का कोई कारण नहीं है, वे *अहेतुः* हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में व्यक्त हुआ है—*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*। भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं और नित्य परब्रह्म होने के कारण उनका स्वयं का कोई कारण नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी ने भी *अहेतुः* शब्द की व्याख्या यह बताने के लिए की है कि कृष्ण-लोक में भगवान् का अपना मौलिक रूप कृष्ण है। चूँकि कृष्ण अपने मुक्त संगियों के साथ सदैव आनन्दमयी लीलाओं में व्यस्त रहते हैं, अतएव वे इस जगत के व्यापारों से विलग बने रहते हैं, जो उनकी बहिरंगा शक्ति माया द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसीलिए कहा गया है *जगृहे पौरुषं रूपम्*। बद्धजीवों के निपट मोह को बढ़ाने तथा क्रमिक शुद्धि के लिए भगवान् अपना विस्तार नारायण तथा विष्णु के रूप में करते हैं। भौतिक सृष्टि से भगवान् के अलग रहने का भी वर्णन वेदों में मिलता है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*। परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि हर कार्य उनकी बहु-शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता रहता है। श्रील

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण *अहेतुः* हैं, किन्तु इस श्लोक में उन्हें *हेतुः* भी कहा गया है, क्योंकि वे परमात्मा रूप में अपना विस्तार करते हैं और विराट जगत के आदि चालक के रूप में कार्य करते हैं।

अहेतुः शब्द को दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है। *भगवद्गीता* (७.५) में भगवान् कहते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

“हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।”

बद्धजीव (*जीवभूत*) अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा (*मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) इन्द्रिय-तृप्ति में लगना चाहते हैं। इस तरह भौतिक जगत का सृजन आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः भौतिक जगत का अस्तित्व बना हुआ है, क्योंकि बद्धजीव इसका विदोहन करना चाहते हैं (*ययेदं धार्यते जगत्*)। सरकार का कर्तव्य है कि जो लोग अपराध करने की प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें कारागार में रखने की व्यवस्था करे। किसी भी नागरिक को कारागार की घृणित दशा में रहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु क्योंकि जनता का कुछ अंश समाज विरोधी आचरण करने पर तुला रहता है, इसलिए कारागार अनिवार्य है। उच्चतर दृष्टिकोण से कैदियों को स्वयं एक तरह से कारागार बनाये जाने का *हेतुः* अर्थात् कारण माना जा सकता है। इसी तरह भगवान् अपने लिए तथा अपने शुद्ध भक्तों के आनन्द-वर्धन के लिए ही अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं, किन्तु बद्धजीवों की अवैध इच्छाओं के प्रत्युत्तर में, जिसमें वे जान-बूझकर उनका विस्मरण करके इन्द्रिय-तृप्ति का जीवन बिता सकें, भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। इसलिए बद्धजीवों को ही भौतिक जगत का *हेतुः* अर्थात् कारण माना जा सकता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया, जिसे भौतिक जगत का कार्य सौंपा गया है, छाया कहलाती है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की छाया है। *सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधनाशक्तिरेकाछायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा*। भगवान् छाया-शक्ति को प्रदर्शित करना नहीं चाहते, जिसे दुर्गा या माया कहा जाता है। नित्य प्रकट रहने वाले आनन्दमय आध्यात्मिक लोकों में भगवान् के

अंशरूप जीवों के लिए यथा सम्भव सर्वश्रेष्ठ सुविधाएँ रहती हैं। किन्तु बद्धजीव भगवान् द्वारा प्रदत्त अचिन्त्य, नित्य आवास-व्यवस्था को त्याग कर छाया-जगत में, जिसे भौतिक जगत कहते हैं, अपने दुर्भाग्य की खोज करते हैं। इस तरह दुर्गा तथा बद्धजीव दोनों ही भौतिक जगत के हेतुः या कारण माने जाते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण अन्ततोगत्वा *सर्वकारणकारणम्* हैं, इसलिए उन्हें परम कारण जानना चाहिए। किन्तु भौतिक जगत के परम कारण के रूप में भगवान् किस तरह कार्य करते हैं (*स्थित्युद्भवप्रलयहेतुः*) इसका वर्णन *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में हुआ है। *उपद्रष्टानुमन्ता च*: भगवान् उपद्रष्टा तथा अनुमति देनेवाले के रूप में कार्य करते हैं। भगवान् की वास्तविक इच्छा का स्पष्ट कथन *भगवद्गीता* में हुआ है : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।* भगवान् चाहते हैं कि हर जीव छाया-शक्ति माया का परित्याग करके वास्तविक वस्तु (*वास्तवं वस्तु*) में लौट आये और यह वस्तु शाश्वत भगवद्भाम है।

यद्यपि परम सत्य के नानाविध पक्षों का वर्णन किया जाता है, किन्तु परम सत्य तो एक ही है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है (*तदवेहि परं नरेन्द्र*)। राजा निमि ने ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा की और अब इस श्लोक में बतलाया जा रहा है— *यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।* जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति के अन्तर्गत भगवान् का सर्वव्यापकत्व तथा इन तीन मानसिक अवस्थाओं से परे उनके अस्तित्व को ब्रह्म अर्थात् भगवान् की दिव्य शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ मानना होगा। अन्त में, इस कथन *देहेन्द्रियासुहृदयाणि चरन्ति येन संजीवितानि* से भगवान् के परमात्मा स्वरूप का द्योतन होता है। जब भगवान् अपने तृतीय विष्णु रूप, क्षीरोदकशायी विष्णु रूप में विस्तार करके प्रत्येक जीव के हृदय में प्रवेश करते हैं, तो शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म अंग कर्म कहलाने वाले सकाम कार्यकलापों की शृंखला को चालू करने के लिए जागृत हो उठते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् के विविध रूप उनके अद्वय होने की श्रेष्ठता में बाधक नहीं होते। परब्रह्म तो *परमव्योमनाथ* हैं, जो श्यामसुन्दर द्विभुज रूप में, चतुर्भुज रूप में, अष्टभुज रूप में या सहस्रभुज रूप में प्रकट होते हैं। प्रत्येक रूप में उनका शरीर नित्य तथा आनन्द और ज्ञान से पूर्ण रहता है (*सच्चिदानन्दमूर्ति*)। पृथ्वी पर वे वासुदेव रूप में प्रकट होते हैं और कारणार्णव में महाविष्णु के रूप में। वे क्षीर सागर में क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में शयन करते हैं और नृसिंहदेव के

रूप में अपने असहाय नवयुवक भक्त की रक्षा करते हैं। वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट होकर पूर्ण राजा की तरह कार्य करते हैं और कृष्ण के रूप में प्रकट होकर हर एक का, विशेष रूप से तरुण सुन्दरियों का हृदय चुराते हैं। भगवान् के ये सारे रूप *नारायण* शब्द द्वारा उसी तरह सूचित होते हैं, जिस तरह राष्ट्रपति कहने से न केवल उसके सरकारी कामकाजों का द्योतन होता है, अपितु उसके निजी पारिवारिक जीवन तथा घनिष्ठ मित्रों का भी होता है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*। जब कोई व्यक्ति भगवान् की औपचारिक जानकारी को लाँघ कर भगवत्प्रेम के उच्च पद को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् को कृष्ण के रूप में समझ सकता है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। भगवान् के असंख्य विष्णु अंशों को भी श्रीकृष्ण के स्वांश समझना चाहिए। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है, *अहं सर्वस्य प्रभवः*। इन बातों का स्पष्टीकरण *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध के साथ-साथ प्रारम्भिक श्लोक ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। जन्मद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेषु में किया जा चुका है।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।

शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-

मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह (परब्रह्म); मनः—मन; विशति—प्रवेश करता है; वाक्—वाणी का कार्य; उत—न तो; चक्षुः—दृष्टि; आत्मा—बुद्धि; प्राण—जीवन दायिनी सूक्ष्म वायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—अथवा; यथा—जिस तरह; अनलम्—अग्नि; अर्चिषः—चिनगारियाँ; स्वाः—अपना; शब्दः—वेद-ध्वनि; अपि—भी; बोधक—वाणी से बताने में समर्थ; निषेधतया—निषेध करने के कारण; आत्म—परमात्मा का; मूलम्—मुख्य प्रमाण; अर्थ-उक्तम्—अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया गया; आह—व्यक्त करता है; यत्-ऋते—जिसके (ब्रह्म के) बिना; न—नहीं है; निषेध—शास्त्रों के कथन का उल्टा; सिद्धिः—चरम प्रयोजन।

न तो मन, न ही वाणी, दृष्टि, बुद्धि, प्राण-वायु या किसी इन्द्रिय के कार्य उस परम सत्य में प्रवेश करने में सक्षम हैं, जिस तरह कि छोटी चिनगारियाँ उस मूल अग्नि को प्रभावित नहीं कर सकती हैं, जिससे वे उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि वेदों की प्रामाणिक भाषा भी परम सत्य का बखान नहीं कर सकती है, क्योंकि स्वयं वेद ही इस सम्भावना से इनकार करते हैं कि सत्य को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु अप्रत्यक्ष निर्देश द्वारा वैदिक ध्वनि परम सत्य का

प्रमाण प्रस्तुत करती है, क्योंकि परम सत्य के अस्तित्व के बिना वेदों में प्राप्त विविध निषेधों का कोई चरम अभिप्राय नहीं होता।

तात्पर्य : प्रज्वलित अग्नि में से निकलने वाली छोटी छोटी चिनगारियाँ, न तो मूल अग्नि को प्रकाशित कर सकती हैं, न उसे जला सकती हैं। मूल अग्नि में निहित उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा क्षुद्र चिनगारियों को प्राप्त उष्मा तथा प्रकाश की मात्रा से सदैव श्रेष्ठ रहते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जीव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न होता है, जैसाकि वेदान्त सूत्र में (जन्माद्यस्य यतः) तथा भगवद्गीता में (अहं सर्वस्य प्रभवः, ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः) कहा गया है। सूक्ष्म जीव भगवान् के अंश अर्थात् चिनगारियाँ होने से अपनी शक्ति की मात्रा में कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते। भगवान् में ज्ञान तथा आनन्द की मात्रा सदैव श्रेष्ठतम् होती है। अतएव जब मूर्ख बद्धजीव अपने क्षुद्र मस्तिष्क से सर्वोच्च सत्य के विषय को प्रकाशित करने का प्रयास करता है, तो वह अपनी मूर्खता को ही प्रकाशित करता है। भगवान् ने ही भगवद्गीता का प्रवचन किया, जो उस पूर्ण ज्ञान की प्रज्वलित अग्नि है, जो तथाकथित दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों की परम सत्य विषयक क्षुद्र कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को जलाकर भस्म कर देती है।

भगवान् हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी कहलाते हैं। चूँकि भगवान् में चरम प्रेक्षण, श्रवण, स्पर्श, घ्राण तथा आस्वाद-शक्ति पाई जाती है, इसलिए सीमित अर्थ में जीव भी हृषिकेश की कृपा से देख, सुन, स्पर्श, सूँघ तथा आस्वाद कर सकते हैं। यह भाव बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.१८) में व्यक्त हुआ है : प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः—परमसत्य को हर एक के प्राणों की आधार प्राण-वायु, हर एक के नेत्रों की दृष्टि, कान की श्रवण-शक्ति तथा भोजन का भी आधार माना जाता है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि परमसत्य को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, अपनी बुद्धि के घेरे में लाने के व्यर्थ प्रयासों द्वारा नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् (२.४.१) में कहा गया है यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह—वाणी की वाक्-शक्ति परमब्रह्म के जगत में असफल हो जाती है और मन की कल्पना-शक्ति उन्हें प्राप्त नहीं कर सकती।

किन्तु क्योंकि, वैदिक श्रुतियों के ऐसे कथन अपने आप में परम सत्य के विवरण हैं, इसलिए ऐसे वैदिक कथनों को विरोधी माना जा सकता है। इसलिए इस प्रसंग में कहा गया है कि शब्दोऽपि

बोधकनिषेधतयात्ममूलम् अर्थोक्तम् आह—यद्यपि वैदिक श्रुति (शब्द) हमें परम सत्य के बारे में कल्पना करने से मना करती है, किन्तु ऐसे निषेध परम व्यक्ति के अस्तित्व की अप्रत्यक्ष पुष्टि करने वाले हैं। वस्तुतः वैदिक निषेध मनुष्य को मानसिक कल्पना के गलत मार्ग से बचाकर भक्तिमयी शरण तक पहुँचाने वाले होते हैं। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता में कहा है— वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—भगवान् को सारे वैदिक वाङ्मय द्वारा जानना चाहिए। इस बात पर जोर देना कि कोई विशेष विधि, जैसे मानसिक कल्पना व्यर्थ है (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) ब्रह्म को प्राप्त करने के सही पथ के होने की अप्रत्यक्ष पुष्टि है। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है सर्वस्य निषेधस्य सावधित्वात्—हर निषेध की विशिष्ट अवधि या सीमा होती है। निषेध को सभी मामलों में लागू नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, एक निषेधात्मक आदेश है कि कोई भी जीव भगवान् के तुल्य या उनसे बड़ा नहीं हो सकता। किन्तु श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा गया है कि वृन्दावनवासी कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्रेम के कारण कभी कभी श्रेष्ठ पद को प्राप्त होते हैं। इस तरह माता यशोदा कृष्ण को रस्सी से बाँधती हैं और कभी कभी प्रभावशाली ग्वालबाल कृष्ण के कंधों पर चढ़ जाते हैं या कुश्ती में उन्हें हरा देते हैं। इसलिए कभी कभी दिव्य परिस्थिति के अनुसार निषेधात्मक आदेशों को समंजित किया जा सकता है।

यद्यपि परमसत्य भौतिक सृष्टि से परे हैं, अतः भौतिक इन्द्रियों की सीमा से भी परे हैं, किन्तु जब ये ही इन्द्रियाँ भगवत्प्रेम से संतृप्त हो उठती हैं, तो वे आध्यात्मिकृत हो जाती हैं और परम सत्य की अनुभूति करने की शक्ति पा जाती हैं। जैसाकि ब्रह्म-संहिता (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा रहता है। वे भक्त के हृदय में अपने शाश्वत श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।” भगवद्गीता (११.८) में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्
अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः
पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

“किन्तु तुम मुझे अपनी वर्तमान साधारण आँखों से नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य आँखें दे रहा हूँ। अब मेरी योग-विभूति को देखो।” इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं, जिनमें पूर्ण परम सत्य अपने भक्त के समक्ष प्रकट हुए हैं—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज, पृथु महाराज, कर्दम मुनि, पाण्डवगण तथा गोपियों के वृत्तान्त। इसलिए यह वैदिक कथन कि परब्रह्म आँखों की शक्ति के परे है, उनका द्योतक है, जिन्हें भगवत्कृपा से दिव्य आँखें प्राप्त नहीं हुईं। किन्तु भगवान् की अपनी इन्द्रियों की, जो हमारी सीमित इन्द्रियों की स्रोत हैं, पुष्टि केन उपनिषद् के इस कथन से (१.४) हो जाती है—*यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते।* ब्रह्म वह है, जिसकी पुष्टि वाणी की भौतिक शक्ति से नहीं हो सकती, वाणी स्वयं उस परब्रह्म द्वारा प्रमाणित है। *येन वाग् अभ्युद्यते*—हमारी वाक्-शक्ति परब्रह्म द्वारा व्यक्त होती है—इस कथन से स्पष्ट रूप से यही व्यक्त होता है कि परब्रह्म की अपनी दिव्य इन्द्रियाँ होती हैं। इसीलिए वे हृषीकेश कहलाते हैं।

श्रील नारद मुनि ने कहा है *हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—हमारी इन्द्रियाँ अपनी शक्ति से परब्रह्म तक नहीं पहुँच पातीं, किन्तु जब वे इन्द्रियों के स्वामी को तुष्ट करने के लिए प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं, तो हमारी सीमित इन्द्रियाँ भगवान् की असीम इन्द्रियों से जुड़ जाती हैं और इस तरह भगवान् की कृपा से उन्हें समझा जा सकता है।

श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मतर्क* से निम्नलिखित कथन उद्धृत किया है :

*आनन्दो नेदृशानन्द इत्युक्ते लोकतः परम्।
प्रतिभाति न चाभाति यथावद् दर्शनं विना ॥*

“परब्रह्म के दिव्य आनन्द की तुलना भौतिक जगत के सामान्य सुख से नहीं की जा सकती।” इसी प्रकार *वेदान्त सूत्र* में परम सत्य को *आनन्दमय* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में श्री पिप्पलायन एक तरह से परब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। नवों योगेन्द्र स्वयं भगवान् के साकार रूप के भक्त थे; इसलिए राजा निमि ने परब्रह्म के विभिन्न रूपों से सम्बद्ध यह प्रश्न इस बात को स्पष्ट करने के लिए पूछा कि भगवान् *अद्वयज्ञान* के विविध पक्षों के स्रोत हैं। इसकी अभिव्यक्ति श्रुति के निम्नलिखित कथन में भी हुई है— *त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि*—मैं उपनिषदों में अभिव्यक्त परम पुरुष के विषय में पूछ रहा हूँ।

यदि शब्दों द्वारा परब्रह्म तक न पहुँचा जा सकता, तो वैदिक वाङ्मय का कोई अर्थ न रहता, जो दिव्य शब्दों का संग्रह है। चूँकि सत्य विषयक वैदिक विवरणों को अचूक मान लिया जाता है, इसलिए यह कह पाना असम्भव है कि वाक्-शक्ति सत्य का वर्णन कर पाने में अक्षम है। आखिर वैदिक मंत्र बोलने तथा सुनने के निमित्त ही होते हैं। अतएव यह आदेश कि न तो मन, न ही वाणी परब्रह्म तक पहुँच सकते हैं (*नैतन् मनो विशति वाग् उत*) सभी मामलों में लागू नहीं होता, प्रत्युत यह उन लोगों के लिए चेतावनी है, जो मूर्खतावश परब्रह्म की थाह अपनी घटिया चिन्तन-शक्ति द्वारा लेने का प्रयास करते हैं। चूँकि वैदिक आदेशों को, चाहे वे सकारात्मक हों या निषेधात्मक, परम सत्य का यथार्थ विवरण माना जाता है, अतएव वैदिक ज्ञान के श्रवण तथा कीर्तन की विधि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) को एक पृथक् विधि मानना चाहिए, जिसमें मनुष्य की श्रवण करने तथा बोलने की शक्ति दिव्य ज्ञान को विनीत भाव से ग्रहण करने से अध्यात्मीकरण हो जाती है। यह विधि भगवान् के भक्त रूप प्रामाणिक गुरु में श्रद्धा पर निर्भर करती है। इसीलिए कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जो महात्मा भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा रखते हैं, उन्हें ही वैदिक ज्ञान का आशय स्वयमेव प्रकट हो जाता है।” *हरिवंश* में स्वयं भगवान् कहते हैं—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् ।

ममैव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥

“परब्रह्म इस ब्रह्माण्ड की सारी विविधताओं में अपना प्रसार करता है। हे भारत! तुम इसे मेरा ही केन्द्रीभूत तेज समझो।” *ज्ञातुमर्हसि* “तुम इसे जानो”—ये शब्द भगवान् के हैं। जिससे यह सूचित

होता है कि परब्रह्म जानने योग्य है, किन्तु मनुष्य को व्यर्थ की कल्पना में समय न गँवाकर सत्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि वैदिक साहित्य के प्रामाणिक कथनों के अनुसार भगवान् का दिव्य रूप *ब्रह्ममय* अर्थात् पूर्णरूपेण आध्यात्मिक माना जाता है, जिसमें भौतिक कलुष का लेशमात्र भी नहीं रहता। अतएव *नीलोत्पलदलश्यामम्* जैसे कथनों से यह समझना चाहिए कि दिव्य श्याम रंग का वर्णन हो रहा है। फिर भी भगवान् अपने भक्तों पर अचिन्त्य रूप से दयालु हैं, यहाँ तक कि उन नवदीक्षितों पर भी, जो भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचने का प्रयास करते होते हैं। इसलिए भगवान् उस बद्धजीव की इन्द्रियों को धीरे धीरे शुद्ध बनाते हैं, जो उन्हें समझने का प्रयास करता है और अन्त में वे ऐसे शुद्ध किये गये सेवक के समक्ष प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *प्राकृतनीलोत्पलवर्णत्वेन भक्तैर्ध्यातमातादृशं अपि*—प्रारम्भ में बद्धजीव पूर्व भौतिक कर्मों से बद्ध होने के कारण इस जगत के अन्तर्गत भौतिक स्वरूपों तथा रंगों के विषय में प्राप्त अपने अनुभव पर भगवान् के दिव्य रूप को आधार बनाकर ध्यान कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप को भौतिक रूपों तथा रंगों से कोई सरोकार नहीं होता, किन्तु इस ध्यान का विषय कृष्ण होने से यह ध्यान धीरे धीरे भगवान् के वास्तविक रूप, रंग, कार्य, लीला तथा साज-सामग्री के दिव्य अनुभव में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, दिव्य ज्ञान भौतिक तर्क पर आश्रित न होकर भगवान् की प्रसन्नता पर आश्रित होता है। यदि भगवान् अपने भक्त द्वारा उन्हें समझने के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे तथाकथित भौतिक तर्कों तथा वैदिक आदेशों की परवाह न करते हुए अपने शुद्ध भक्त के समक्ष तुरन्त प्रकट होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की इस सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार नहीं करता, तब तक परब्रह्म के पास फटकने की आशा नहीं रहती। इसलिए *कठ उपनिषद्* (१.३.१२) में कहा गया है कि *दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया*—परब्रह्म दिव्य बुद्धि द्वारा देखा जा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से अर्जित ज्ञान मात्र काल्पनिक होता है, वास्तविक नहीं। अनुभवसिद्ध ज्ञान हमारे इन्द्रिय-विषयों के क्षणिक अनुभव से सम्बद्ध है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, इस समय राष्ट्रीयता की भ्रान्त धारणा के कारण अनेक युद्ध चल रहे हैं। इसी तरह विश्व-भर में संघर्ष छिड़ा हुआ

है और विश्व के बड़े बड़े नेता अपने अपने देश के आर्थिक विकास के हेतु कुत्तों-बिल्लियों की तरह लड़ते हैं। इस तरह आँख, नाक, जीभ, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अनुभव किये जाने वाले नश्वर पदार्थों को उपाधि देने के लिए भौतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म के पास पहुँचने के लिए ऐसी भाषा तथा अनुभव व्यर्थ हैं। किन्तु वैकुण्ठ से आने वाली दिव्य ध्वनि का सर्वथा भिन्न प्रभाव पड़ता है। हमें चाहिए कि भगवान् को भौतिक जगत के एक पदार्थ के रूप में सम्मिलित करने के लिए मनगढंत भाषा का प्रयोग करने का मूर्ख प्रयास न करें। परमेश्वर नितान्त दिव्य हैं और *आत्म-प्रकाश* कहलाते हैं। इसलिए जैसाकि *पद्म पुराण* में कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

“भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण के पवित्र नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं को नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब बद्धजीव कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो उठता है और अपनी जीभ द्वारा भगवान् के नाम का उच्चारण करके भक्ति करता है, तथा भगवान् के भोजन का उच्चिष्ट खाता है, तो उसकी जीभ शुद्ध हो जाती है और मनुष्य धीरे धीरे यह जानने लगता है कि कृष्ण वास्तव में कौन है।” यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसकी चिन्मय इन्द्रियाँ धीरे धीरे भगवान् का अनुभव करने में समर्थ हो जाती हैं। मात्र अनुभववाद तथा भौतिक तर्क की सीमा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भीतर अत्यन्त संकुचित है और यह शाश्वत वस्तुओं पर लागू नहीं होती। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (७.५.३२) उद्धृत किया है—

नैषां मतिस्तावद् उरुक्रमांघ्रिं

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किचनानां न वृणीत् यावत् ॥

“जब तक भौतिकतावाद के प्रति उन्मुख लोग अपने शरीर पर भौतिक कल्मष से मुक्त वैष्णव के चरणकमल की धूल धारण नहीं करते, तब तक वे उन भगवान् के चरणकमलों से जुड़ नहीं सकते,

जिनका महिमा-गायन उनके अद्वितीय कार्यों के लिए किया जाता है। कृष्णभावनाभावित होकर तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण इस तरह ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।”

यद्यपि श्री पिप्पलायन यह कह रहे हैं कि भौतिक इन्द्रियों द्वारा परब्रह्म तक नहीं पहुँचा जा सकता, किन्तु मुनि स्वयं ही दिव्य इन्द्रियों से युक्त परम सत्य का वर्णन कर रहे हैं। राजा निमि इस दिव्य ध्वनि को समझ रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के शुद्ध भक्तों, नव-योगेन्द्रों के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। इसलिए किसी को इस श्लोक का अर्थ मूर्खतावश प्रसंग से कट कर निर्विशेषवादी प्रकार का नहीं लगना चाहिए, अपितु राजा निमि के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, जो यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि भगवान् अंततः किस तरह हर वस्तु के स्रोत हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ

सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।

ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति

ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तथा तमोगुण; इति—इस प्रकार ज्ञात; त्रि-वृत्—तीनों; एकम्—एक; आदौ—प्रारम्भ में, सृष्टि से पूर्व; सूत्रम्—कर्म करने की शक्ति; महान्—चेतना-शक्ति; अहम्—तथा मिथ्या अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रवदन्ति—कहलाता है; जीवम्—(मिथ्या अहंकार, जो आच्छादित करता है) जीव को; ज्ञान—ज्ञान के साक्षात् रूप देवतागण; क्रिया—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय-विषय; फल—तथा सुख-दुख के रूप में सकाम फल; रूपतया—रूप धारण करके; उरु-शक्ति—अनेक प्रकार की शक्ति से सम्पन्न; ब्रह्म एव—केवल ब्रह्म; भाति—प्रकट होता है; सत् असत् च—स्थूल इन्द्रियाँ तथा उनके सूक्ष्म कारण; तयोः—दोनों; परम्—परे; यत्—जो है।

ब्रह्म जो मूलतः एक है, वह त्रिगुण होकर विख्यात है और प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—के रूप में अपने को प्रकट करता है। ब्रह्म इससे भी आगे अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इस तरह मिथ्या अहंकार के साथ साथ कार्य करने की शक्ति तथा चेतना-शक्ति प्रकट होती है, जो बद्ध जीव के स्वरूप को ढक लेती है। इस तरह ब्रह्म की बहुविध शक्तियों के विस्तार से देवतागण ज्ञान के साक्षात् रूप में प्रकट होते हैं और उनके साथ साथ भौतिक इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा कर्मफल—सुख-दुख—प्रकट होते हैं। इस तरह भौतिक जगत की अभिव्यक्ति सूक्ष्म कारण के रूप में तथा स्थूल भौतिक पदार्थों में दृश्य भौतिक कार्य

के रूप में होती है। ब्रह्म, जो कि समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल अभिव्यक्तियों का स्रोत है, परम होने के कारण, उनसे परे भी रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में पिप्पलायन मुनि ने ब्रह्म को भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति तथा मानसिक चिन्तन के परे बतलाया है। साथ ही यह भी कहा गया है *आत्ममूलम् अर्थोक्तम् आह यदते न निषेध सिद्धिः*—वेदों के निषेधात्मक आदेश परोक्षतः परब्रह्म के अस्तित्व को बतलाने वाले हैं। इस परब्रह्म तक सही साधनों से पहुँचा जा सकता है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परब्रह्म की असंख्य शक्तियाँ हैं (*उरुशक्ति ब्रह्मैव भाति*)। इस तरह परब्रह्म के विस्तार से भौतिक जगत के स्थूल तथा सूक्ष्म स्वरूप प्रकट होते हैं। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने कहा है—*कार्य कारणाद् भिन्नं न भवति*—कारण से कार्य भिन्न नहीं है। चूँकि ब्रह्म का नित्य अस्तित्व है, अतएव ब्रह्म की शक्ति होने से इस भौतिक जगत को भी वास्तविक मान लेना चाहिए, यद्यपि भौतिक जगत की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ नश्वर तथा भ्रामक हैं। भौतिक जगत को असली तत्त्वों की अन्योन्य क्रियाओं से युक्त समझना चाहिए। यह भौतिक जगत बौद्धों तथा मायावादियों की कल्पना की तरह मिथ्या नहीं है, जो यह कहते हैं कि द्रष्टा के मन के बाहर इस भौतिक जगत का अस्तित्व नहीं होता। ब्रह्म की शक्ति रूप में इस भौतिक जगत का असली अस्तित्व है। किन्तु जीव क्षणिक अभिव्यक्तियों को मूर्खतावश स्थायी मानकर मोहग्रस्त हो जाता है। इस तरह भौतिक जगत मोहक शक्ति (माया) की तरह कार्य करता है, जिससे जीव वैकुण्ठ-लोक को भूल जाता है, जहाँ पर जीवन सच्चिदानन्दमय और शाश्वत है। चूँकि भौतिक जगत बद्धजीव को मोहग्रस्त बनाता है, इसलिए यह मोहमय कहलाता है। जब जादूगर मंच पर अपनी कलाबाजी दिखलाता है, तो दर्शक, जो कुछ देखता है, वह इन्द्रजाल (भ्रम) होता है। किन्तु जादूगर वास्तव में विद्यमान रहता है और उसी तरह टोपी तथा खरगोश भी, यद्यपि टोपी में से खरगोश का निकलना भ्रम है। इसी प्रकार जब जीव यह सोचते हुए कि “मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ” और अपने आपको भौतिक जगत का अंश मान लेता है, तो वह भगवान् की भ्रामक शक्ति के जादू से मोहित हो जाता है। बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि “मैं शुद्ध आत्मा हूँ, मैं कृष्ण का अंश हूँ। अब मैं अपने व्यर्थ के कार्य बन्द करूँ और कृष्ण की सेवा करूँ, क्योंकि मैं उनका अंश हूँ।” तब वह माया के भ्रम से मुक्त हो पाता है। यदि कोई यह घोषित करके कि

माया तो है ही नहीं और यह जगत मिथ्या है, कृत्रिम ढंग से माया के पाश से बचना चाहे, तो वह माया द्वारा उत्पन्न दूसरे भ्रम में जा पड़ता है, जिससे वह अज्ञान में रहता रहे। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

जब तक मनुष्य मायेश अर्थात् माया के स्वामी के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक भ्रम से बच पाने की सम्भावना नहीं रहती। बच्चों की तरह यह कहना कि माया तो है ही नहीं व्यर्थ है, क्योंकि माया तो *दुरत्यया* है, अर्थात् क्षुद्र जीव द्वारा अलंघ्य है। किन्तु सर्वशक्तिमान कृष्ण इस माया को तुरन्त समाप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक में ब्रह्म से भौतिक जगत के विस्तार होने का वर्णन हुआ है। चूँकि ब्रह्म भगवान् का एक अधीनस्थ स्वरूप है (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते*) इसलिए, जो व्यक्ति इस भौतिक जगत को ब्रह्म के रूप में मानता है, वह अपनी इन्द्रिय-तृप्ति एवं काल्पनिक चिंतन के माध्यम से अपनी निजी तुष्टि के निमित्त भौतिक शक्ति के दोहन की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि चूँकि ब्रह्म को *एकम्* बतलाया गया है, तो फिर वह भौतिक जगत के नाना रूपों में किस प्रकार प्रकट होता है? इसीलिए इस श्लोक में *उरु-शक्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं, जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*। परब्रह्म शक्ति नहीं अपितु शक्तिमान हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि परब्रह्म के इन वर्णनों को विनयपूर्वक सुने। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है *यथानलम् अर्चिषः स्वाः*—अग्नि की क्षुद्र चिनगारियाँ तेज के स्रोत प्रज्वलित अग्नि को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं रखतीं। इसी प्रकार क्षुद्र जीव, जो कि भगवान् की चिनगारी के समान है, अपनी क्षुद्र बौद्धिक शक्ति से भगवान् को प्रकाशित नहीं कर सकता है। यह तर्क किया जा सकता है कि सूर्य अपनी किरणों के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करता है और इन्हीं किरणों के प्रकाश से हम सूर्य को देख पाते हैं। इसी तरह हमें परब्रह्म की शक्ति के प्रसार से परब्रह्म को देख पाने में सक्षम होना चाहिए। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि सूर्य आकाश को ढकने वाला बादल उत्पन्न कर

देता है, तो सूर्य की किरणों के होने पर भी सूर्य नहीं देखा जा सकता। इसलिए सूर्य को देखने की शक्ति न केवल सूर्य-किरणों पर निर्भर करती है, अपितु स्वच्छ आकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है, जो कि सूर्य द्वारा ही व्यवस्थित है। इसी तरह जैसा इस श्लोक में कहा गया है, परब्रह्म के अस्तित्व को उनकी शक्तियों के विस्तार द्वारा जाना जा सकता है।

यद्यपि पिछले श्लोक में भौतिक इन्द्रियों तथा मन की शक्ति को बहिष्कृत कर दिया गया था, किन्तु यहाँ पर दिया हुआ प्रामाणिक वर्णन यह सूचित करता है कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति-रूप में देख सकता है। इस सम्बन्ध में, नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हि को निम्नवत् उपदेश दिया था—

अतस्तद् अपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।

पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥

“तुम्हें यह जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से इस जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। अतएव इस जगत के भीतर हर वस्तु भगवान् के अधीन है। इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए।” (भागवत ४.२९.७९) जैसाकि यहाँ पर कहा गया है— *भज सर्वात्मना हरिम्*—मनुष्य को भगवान् की पूजा इसलिए करनी चाहिए, जिससे उसकी चेतना उसी तरह स्वच्छ हो जाय, जिस तरह नीला आसमान शक्तिमान सूर्य के पूरी तरह प्रकट होने पर स्वच्छ हो जाता है। जब कोई व्यक्ति सूर्य को देखता है, तो उसे सूर्य की किरणें अपनी पूरी शक्ति में दिखलाई पड़ती हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति कृष्ण की भक्ति में लगता है, तो उसके मन की भौतिक धूल साफ हो जाती है। तब वह न केवल भगवान् को देखता है, अपितु भगवान् के अंशों को आध्यात्मिक जगत के रूप में, शुद्ध भक्तों के रूप में, परमात्मा के रूप में, निर्विशेष ब्रह्मज्योति के रूप में और भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देखता है, जो कि भगवद्धाम की छाया के रूप में है (*छायेव*), जिसमें न जाने कितनी भौतिक विविधताएँ प्रकट होती हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *फलम्* शब्द से *पुरुषार्थस्वरूपम्*—अर्थात् जीवन-लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप या कि साक्षात् भगवान् का दिव्य रूप अर्थग्रहण करना चाहिए। जीव अपनी मूल शुद्ध अवस्था में भगवान् से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण भगवद्धाम, जो कि वैकुण्ठ

कहलाता है, गुण की दृष्टि से भगवान् से अभिन्न है। इस तरह जब भगवान् अपने अद्वितीय ऐश्वर्य तथा अपने शुद्ध आध्यात्मिक दासों अर्थात् जीवों के साथ उपस्थित होते हैं, तो अत्यन्त सुखद स्थिति उत्पन्न होती है। परिवार की संसारी धारणा उस सुखद स्थिति का विकृत रूप है, जिसमें भगवान् अपने पूर्ण दिव्य ऐश्वर्य में अपने शुद्ध भक्तों से संयुक्त होते हैं। हर जीव को भगवद्धाम में भगवान् से संयुक्त होने का विकल्प प्राप्त है। अतः इस श्लोक से यह समझना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति है, अतएव भगवान् की सेवा के निमित्त है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्।*

श्रील जीव गोस्वामी ने विस्तृत व्याख्या देकर सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विराट जगत परब्रह्म की प्राकृतिक शक्ति है। कभी कभी भगवान् के ज्ञान से विहीन अंधविश्वासी लोग यह कहते हैं कि सारे भौतिक कार्यों का नियंत्रण एक स्वतंत्र शैतान द्वारा होता है और ईश्वर को ऐसे शैतान से संघर्ष करना होता है। भगवान् की सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति ऐसे निपट अज्ञान को इस श्लोक का तात्पर्य समझ कर दूर किया जा सकता है। जिस तरह एक चिनगारी प्रज्वलित अग्नि का एक लघु प्राकट्य है, उसी तरह यहाँ पर विद्यमान हर वस्तु भगवान् की शक्ति की क्षुद्र चिनगारी के रूप में है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

“किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंशमात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।” वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् हर जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। इसलिए यदि विज्ञ की तरह यह समझ लिया जाय कि हर एक के शुभेच्छु मित्र कृष्ण ही हर विद्यमान वस्तु के परम स्रोत तथा नियन्ता हैं, तो उसे तुरन्त शान्ति-लाभ होता है (*ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*)। भय तथा मोह, तो तब उत्पन्न होते हैं, जब मनुष्य मूर्खतावश यह सोचता है कि इस सृष्टि का एक कण भी भगवान् की शक्ति द्वारा संचालित नहीं होता। *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।* भौतिक जगत के अस्तित्व का निषेध भी मोह की भयावह स्थिति उत्पन्न कर देता है। दोनों ही तरह की नास्तिकता—भौतिक जगत को अपने से सम्बद्ध देखना तथा भौतिक जगत के अनस्तित्व की घोषणा—हर वस्तु के स्वामी तथा भोक्ता भगवान् की अधीनता न स्वीकार करने के

व्यर्थ प्रयास हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने *विष्णु पुराण* से (१.३.१) श्री पराशर से श्री मैत्रेय द्वारा पूछे गये प्रश्न को उद्धृत किया है—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धयस्याप्यमलात्मनः ।

कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥

“हम यह कैसे समझें कि ब्रह्म या परमात्मा सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं, यद्यपि वे गुणरहित, अगाध, अशरीरी तथा किसी दोष से रहित हैं ?” इसके उत्तर में श्री पराशर ने कहा—

शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः ।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥

“केवल तर्क द्वारा यह नहीं बतलाया जा सकता कि भौतिक वस्तुएँ भी अपनी शक्ति का किस तरह का विस्तार करती हैं। इन वस्तुओं को परिपक्व प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। परब्रह्म भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार में अपनी शक्ति का विस्तार, वैसे ही करते हैं जिस प्रकार अग्नि अपनी उष्मा-शक्ति का विस्तार करती है।” (*विष्णु पुराण १.३.२*) श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि मूल्यवान रत्न की कीमत केवल तर्क द्वारा नहीं आँकी जा सकती, अपितु उसके प्रभाव को देखने से आँकी जाती है। इसी तरह मंत्र-शक्ति को इसके विशेष प्रभाव प्राप्त करने की शक्ति को परख कर ही समझा जा सकता है। ऐसी शक्ति तर्क पर आश्रित नहीं होती। बीज के उगने और बढ़कर वृक्ष के रूप में मानव-शरीर को पोषण प्रदान करने वाले फल देने के पीछे कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है। कोई यह तर्क दे सकता है कि समूचे वृक्ष का आनुवंशिक कूट बीज में निहित है। किन्तु बीज के अस्तित्व के पीछे या बीज का विशाल वृक्ष बनने के पीछे कोई तर्क नहीं है। अद्भुत भौतिक प्रकृति के प्राकट्य के बाद मूर्ख भौतिक वैज्ञानिक बीज की विस्तार-शक्ति को घटनाओं के ऊपरी मनोवैज्ञानिक क्रम में ढूँढ़ निकालता है, किन्तु तथाकथित शुद्ध तर्क-शास्त्र के भीतर ऐसा कुछ नहीं, जो यह आदेश दे सके कि बीज को विस्तार करके वृक्ष बन जाना चाहिए। प्रत्युत ऐसे विस्तार को वृक्ष की शक्ति मानना चाहिए। इसी प्रकार रत्न की शक्ति उसकी रहस्यमयी शक्ति है और विविध मंत्रों में भी आन्तरिक शक्तियाँ रहती हैं। अन्ततः महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम

हरे हरे—में ऐसी शक्ति है कि वह मनुष्य को आनन्द तथा ज्ञान के आध्यात्मिक जगत में पहुँचा दे। इसी प्रकार परब्रह्म में अपने को असंख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत्‌ओं में विस्तार करने का सहज गुण पाया जाता है। हम इस विस्तार को तथ्य के बाद, तर्क द्वारा बतला सकते हैं, किन्तु परब्रह्म के विस्तार से इनकार नहीं कर सकते। बद्धजीव, जो कि भक्ति के माध्यम से अपनी चेतना को शुद्ध करता है, यहाँ पर वर्णित परब्रह्म के विस्तार का प्रेक्षण वैज्ञानिक ढंग से कर सकता है, जिस तरह कि नेत्र वाला व्यक्ति (जो अंधा नहीं है) बीज को वृक्ष में बढ़ते देख सकता है। बीज की शक्ति को कल्पना से नहीं, अपितु व्यावहारिक प्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि अपनी दृष्टि को शुद्ध बना ले, जिससे वह परब्रह्म के विस्तार को व्यावहारिक रूप से देख सके। ऐसा अवलोकन या तो कानों से या आँखों से सम्भव है। वैदिक ज्ञान शब्द-ब्रह्म है अर्थात् शब्द के रूप में दिव्य शक्ति है। इसलिए दिव्य ध्वनि के विनीत श्रवण द्वारा परब्रह्म के कार्यों का अवलोकन किया जा सकता है। शास्त्र-चक्षुः। जब मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध बन जाती है, तो वह परब्रह्म का अनुभव अपनी सारी आध्यात्मीकृत इन्द्रियों से कर सकता है।

परब्रह्म या ईश्वर भौतिक गुणों अर्थात् सतो, रजो तथा तमोगुणों से विहीन हैं, क्योंकि वे दिव्य गुणों के आगार हैं, अतएव उन्हें भौतिक जगत के निम्न गुणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसाकि श्वेताश्वतर उपनिषद् (४.१०) में कहा गया है—*मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्*—जान लो कि माया भौतिक शक्ति है, जबकि भगवान् माया के स्वामी हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में कहा गया है—*मायां च तदपाश्रयाम्*—माया सदैव भगवान् के अधीन है।

जिस तरह उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि यह भौतिक जगत भगवान् की निर्विशेष ब्रह्म-शक्ति का उद्भव है, उसी तरह ब्रह्म कृष्ण की शक्ति का अंश है, जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्)। (ब्रह्म-संहिता ५.४०)

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि निर्विशेष ब्रह्म में न तो दिव्य कर्म होता है, न परम पुमर्थ या मानव-जीवन का लाभ अर्थात् प्रेम। इसलिए यदि कोई व्यक्ति भगवान् के शारीरिक तेज के अंश से, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, चकाचौंध हो जाता है और भगवान् को ठीक से जान नहीं पाता, तो उसके द्वारा भगवान् के आनन्दमय अंश के रूप में अपनी नित्य पहचान होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इस विषय का सार चैतन्य चरितामृत (आदि १.१.३) में दिया गया है—

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा

य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः ।

षड्-ऐश्वर्यै पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं

न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परातत्त्वं परमिह ॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ

न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं

प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; जजान—उत्पन्न हुआ था; न—कभी नहीं; मरिष्यति—मरेगा; न—कभी नहीं; एधते—बढ़ता है; असौ—यह; न—नहीं; क्षीयते—क्षीण होता है; सवन-वित्—काल की इन अवस्थाओं का ज्ञाता; व्यभिचारिणाम्—जैसाकि अन्य परिवर्तनशील प्राणियों में घटित होते हैं; हि—निस्सन्देह; सर्वत्र—सभी जगह; शश्वत्—निरन्तर; अनपायि—कभी अप्रकट न होकर; उपलब्धि-मात्रम्—शुद्ध चेतना; प्राणः यथा—जिस तरह शरीर के भीतर प्राण-वायु; इन्द्रिय-बलेन—इन्द्रियों के बल से; विकल्पितम्—विभक्त मानते हुए; सत्—होकर।

नित्य आत्मा ब्रह्म न तो कभी जन्मा था और न कभी मरेगा। न ही वह बड़ा होता है न उसका क्षय होता है। वह आध्यात्मिक आत्मा वास्तव में भौतिक शरीर की युवावस्था, मध्यावस्था तथा भौतिक शरीर की मृत्यु का ज्ञाता है। इस प्रकार आत्मा को शुद्ध चेतना माना जा सकता है, जो सभी काल में सर्वत्र विद्यमान रहता है और कभी विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार प्राण एक होते हुए भी शरीर के भीतर विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में अनेक रूप में प्रकट होता है, उसी तरह वह एक आत्मा भौतिक शरीर के सम्पर्क में विविध भौतिक उपाधियाँ धारण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : भागवत के इस अध्याय में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस वैदिक सूक्ति की व्याख्या की गई है। भगवान् हर वस्तु के मूल स्रोत हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार करके आध्यात्मिक जगत प्रकट

करते हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से भौतिक जगत को प्रकट करते हैं। बद्धजीव मूलतः भगवान् की परा (श्रेष्ठ) अन्तरंगा शक्ति के अंश हैं किन्तु मोह के सम्पर्क में रहने से वह बहिरंगा शक्ति के पाश में जा गिरते हैं। चूँकि हर अवस्था में प्रत्येक वस्तु परब्रह्म की शक्ति का अंश है अतएव हर वस्तु भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का अंश है। *भयं द्वितीयाभिनवेशतः स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः*। जब जीव यह सोचता है कि भौतिक जगत भगवान् की शक्ति का अंश नहीं है अपितु उसका पृथक् अस्तित्व है, जो क्षुद्र जीवात्मा द्वारा नियंत्रित तथा भुक्त हो सकता है, तो वह *विपर्ययः* अर्थात् गलत विचार से ग्रस्त रहता है। *अस्मृतिः*—इस तरह जीव भूल जाता है कि भगवान् हर वस्तु के स्वामी हैं और हर वस्तु भगवान् की अंश है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है कि यद्यपि भगवान् की बहिरंगा शक्ति में जन्म, वृद्धि, क्षय तथा मृत्यु जैसे रूपान्तर (विकार) होते हैं, किन्तु इससे यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति रूपी जीव भी इन परिवर्तनों के अधीन है। जीव तथा प्रकृति दोनों ही अन्ततः ब्रह्म हैं, क्योंकि वे परब्रह्म के अंश हैं। किन्तु वेदों का स्पष्ट कथन है *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की शक्तियाँ *विविधा* अर्थात् अनेकरूपा हैं। इस तरह इस श्लोक के अनुसार *नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते*—आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है, न मरता है और भौतिक शरीर की तरह निश्चय ही यह न तो बढ़ता है न ही इसका क्षय होता है। यद्यपि दृश्य भौतिक शरीर बालपन, युवावस्था तथा वृद्धावस्था से होकर गुजरता है या कि कोई देवता, मनुष्य, पौधे या पशु के रूप में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु आत्मा कभी भी अपनी नित्य स्वाभाविक स्थिति को नहीं छोड़ता। प्रत्युत वह झूठे ही अपनी पहचान भौतिक शरीर के बाह्य रूपान्तरों से करता है और इस तरह वह मोह नामक मनोवैज्ञानिक स्थिति का शिकार बनता है। अपने को प्रकृति के नियमों द्वारा रूपान्तरित एवं विनष्ट होते देखने का दयनीय मोहमय अनुभव अपने नित्य पद को भगवान् की पराशक्ति के रूप में जान करके ही समाप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में *सर्वत्र* शब्द का अर्थ मूर्खतावश जीवात्मा का सर्वव्यापक होना नहीं लेना चाहिए। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। तो भी अपनी वर्तमान बद्ध अवस्था में हम झूठे ही शरीर के जन्म तथा मृत्यु से अपनी पहचान करते हैं। चूँकि सर्वव्यापक आत्मा कभी मोहग्रस्त नहीं होता, अतएव

सर्वत्र शब्द यह सूचित नहीं कर सकता कि व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापक है। मोह वास्तविकता के अपूर्ण ज्ञान को बताने वाला है, जो कि सर्वव्यापक जीव के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए सर्वत्र शब्द का अर्थ यह लगाना चाहिए कि शुद्ध आध्यात्मिक आत्मा समस्त भौतिक दशाओं में विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति में हो सकता है चेतना खुल्लमखुल्ला प्रकट नहीं हो, फिर भी शरीर के भीतर आत्मा को विद्यमान मान लिया जाता है। इसी प्रकार भगवद्गीता से यह जाना जाता है कि आत्मा अग्नि, जल या बाह्य अवकाश में भी विद्यमान रह सकता है (नित्यः सर्वगतः) क्योंकि आत्मा कभी भी भौतिक दशाओं पर आश्रित नहीं होता, अपितु वह एक शाश्वत तथ्य है। आत्मा की चेतना किसी विशेष भौतिक दशा द्वारा प्रदत्त सम्भावनाओं के अनुसार कम या ज्यादा प्रकट हो सकती है, जिस तरह विद्युत् प्रकाश उपलब्ध बल्ब (लट्टू) के अनुसार किसी विशेष प्रखरता तथा रंग में प्रकट होता है। विद्युत् शक्ति एक है, किन्तु भौतिक दशाओं के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होती है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध चेतना है (उपलब्धिमात्रम्), किन्तु यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि चेतना निरन्तर बदलती रहती है। यदि मैं आकाश जैसे नीले पदार्थ के विषय में सोच रहा हूँ, तो फूल जैसे किसी पीले पदार्थ के विषय में इसके पूर्व का मेरा विचार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि मुझे पता चल जाता है कि मैं भूखा हूँ, तो नीले आकाश की मेरी चेतना नष्ट हो जाती है। इस तरह चेतना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उत्तर दिया है कि चेतना स्वयं तो नित्य है, किन्तु भौतिक इन्द्रियों के सम्पर्क में आने से यह अनेक प्रकार से प्रकट हो सकती है। प्राण का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। प्राण एक है, किन्तु विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क में वह देखने, सुनने इत्यादि की शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। इसी तरह आध्यात्मिक होने से चेतना अन्ततः एक है, किन्तु विविध इन्द्रियों के सम्पर्क में होने से इसे विशेष इन्द्रिय-व्यापार के रूप में अनुभव किया जा सकता है। किन्तु चेतना की अवस्था एक शाश्वत तथ्य है, जिसे बदला नहीं जा सकता, यद्यपि अस्थायी रूप से वह माया द्वारा आवृत हो सकती है।

जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह धीर मान लिया जाता है (धीरस्तत्र न मुह्यति)। उस समय वह अपनी चेतना की झूठी पहचान प्रकृति के रूपान्तरों के रूप में करके मोहग्रस्त नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त तत्त्वमसि कथन से यह समझा जाना चाहिए कि आध्यात्मिक ज्ञान निर्विशेष नहीं है, अपितु भौतिक शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा की क्रमिक अनुभूति करना है। जिस तरह भगवद्गीता में कृष्ण बारम्बार अहम् का प्रयोग करते हैं, उसी तरह इस वैदिक सूक्ति में त्वम् का प्रयोग यह सूचित करने के लिए हुआ है कि जिस तरह परब्रह्म भगवान् है, उसी तरह ब्रह्म (तत्) की हर चिनगारी भी नित्य पुरुष (त्वम्) है। इसलिए श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ब्रह्म की हर चिनगारी नित्य चेतन है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने यह भी इंगित किया है कि सत्य के निर्विशेष पक्ष को समझने में समय न गँवाकर, अपने आप को जीव कोटि में नित्य चेतन जीव समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि अपने को भगवान् का चेतन दास समझे।

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने महाभारत के मोक्ष-धर्म खण्ड से निम्नलिखित वक्तव्य उद्धृत किया है—

अहं हि जीवसंज्ञो वै मयि जीवः सनातनः ।

मैवं त्वयानुमन्तव्यं दृष्टो जीवो मयेति ह ।

अहं श्रेयो विधास्यामि यथाधिकारमीश्वरः ॥

“जीवात्मा मुझसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह मेरा अंश है। इस तरह जीव मेरे ही समान नित्य है और वह मेरे भीतर सदैव स्थित रहता है। किन्तु तुम कृत्रिम रूप से यह न सोच बैठना कि मैंने आत्मा को देख लिया है। प्रत्युत मैं भगवान् तुम्हें वह वर तब दूँगा, जब तुम सचमुच इसके योग्य हो जाओगे।”

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु

प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।

सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते

कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अण्डेषु—अण्डों (से उत्पन्न योनियों) में; पेशिषु—भ्रूणों में; तरुषु—पौधों में; अविनिश्चितेषु—अनिश्चित उत्पत्ति वाली (पसीने से उत्पन्न) योनियों में; प्राणः—प्राण-वायु; हि—निश्चय ही; जीवम्—आत्मा; उपधावति—पीछा करता है; तत्र तत्र—एक योनि से दूसरी में; सन्ने—मिल जाते हैं; यत्—जब; इन्द्रिय-गणे—सारी इन्द्रियाँ; अहमि—मिथ्या अहंकार; च—भी; प्रसुप्ते—गहरी निद्रा में; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आशयम्—दूषित चेतना का सूक्ष्म आवरण, लिंग शरीर; ऋते—रहित; तत्—उसके; अनुस्मृतिः—पश्चर्त्ती स्मरणशक्ति; नः—हमारी ।

इस भौतिक जगत में आत्मा कई जीव योनियों में जन्म लेता है। कुछ योनियाँ अंडों से उत्पन्न होती हैं, कुछ भ्रूण से, कुछ पौधों और वृक्षों के बीजों से तो कुछ स्वेद से उत्पन्न होती हैं। किन्तु समस्त योनियों में प्राण अपरिवर्तित रहता है और वह आत्मा के पीछे पीछे एक शरीर से दूसरे में चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न जीवन-स्थितियों के बावजूद निरन्तर वही बना रहता है। हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है। जब हम बिना स्वप्न देखे प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो भौतिक इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, यहाँ तक कि मन तथा मिथ्या अहंकार भी निष्क्रिय हो जाते हैं, किन्तु जब मनुष्य जागता है, तो वह स्मरण करता है कि आत्मारूप वह शान्ति से सो रहा था, यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और मिथ्या अहंकार निष्क्रिय थे।

तात्पर्य : जब जीव जगा रहता है, तो इन्द्रियाँ तथा मन निरन्तर सक्रिय रहते हैं। इसी तरह जब मनुष्य सोता है, तो मिथ्या अहंकार मनुष्य के जागृत अनुभवों का स्मरण करता है और इस तरह सोते समय स्वप्नों या स्वप्न-खण्डों का अनुभव होता है। किन्तु *प्रसुप्ति* अर्थात् गहरी निद्रा की अवस्था में मन तथा इन्द्रियाँ दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं और मिथ्या अहंकार पहले के अनुभवों या इच्छाओं को स्मरण नहीं कर पाता। सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार *लिंग-शरीर* अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यह लिंग-शरीर क्षणिक उपाधियों के रूप में—जैसे कि मैं धनी हूँ, मैं बली हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं चीनी हूँ—के रूप में अनुभव किया जाता है। मनुष्य के भ्रामक विचारों का कुल योग *अहंकार* कहलाता है। और इस भ्रामक जीवन-विचार के ही कारण जीव एक योनि से दूसरी में देहान्तरण करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है। किन्तु आत्मा अपने सच्चिदानन्द रूप को नहीं बदलता, भले ही आत्मा क्षण-भर के लिए इस स्थिति को भूल जाये। इस तरह की स्थिति का उदाहरण दिया जा सकता है : यदि कोई रात में यह स्वप्न देखे कि वह जंगल में घूम रहा है, तो इस स्वप्न से मनुष्य की यह वास्तविक स्थिति नहीं बदलती कि वह अपने कमरे में बिस्तर पर लेटा है। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है *कूटस्थ आशयम् ऋते*—सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन के बावजूद आत्मा परिवर्तित नहीं होता। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस बात को निम्नलिखित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। *एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम् न किञ्चिद् अवेदिषम्।* मनुष्य प्रायः सोचता है कि “मैं तो शान्ति से सो रहा था, यद्यपि न तो मैं स्वप्न देख रहा था, न ही मुझे किसी बात का पता था।” यह तर्क

द्वारा समझा जा सकता है कि मनुष्य को जिस बात का अनुभव नहीं हुआ रहता, उसको वह स्मरण नहीं रख सकता। इसलिए चूँकि मनुष्य को शान्तिपूर्वक सोते रहना स्मरण है, यद्यपि उसे मानसिक या ऐन्द्रिय अनुभव नहीं था, ऐसी स्मृति को आत्मा का अस्पष्ट अनुभव मानना चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य ने बतलाया है कि इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों की मानव जैसी श्रेष्ठ जातियों वाले देवतागण सामान्य मनुष्यों की भाँति गहरी नींद के स्थूल अज्ञान में नहीं पड़ते। श्रेष्ठ बुद्धि वाले होने से देवतागण नींद के समय अज्ञान में लीन नहीं होते। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। नींद अपोहनम् या विस्मृति है। कभी कभी स्वप्न देखते समय *स्मृति* अर्थात् वास्तविक स्थिति की याद रहती है, यद्यपि नींद में मनुष्य के परिवार वाले या मित्रगण परिवर्तित मोहमय अवस्था में दिखते हैं। किन्तु स्मृति तथा विस्मृति की ऐसी सारी अवस्थाएँ हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति के कारण होती हैं। परमात्मा की कृपा से मनुष्य को यह स्मरण करके कि वह बिना किसी मानसिक या ऐन्द्रिक अनुभव के ही किस तरह शान्तिपूर्वक विश्राम कर रहा था, आत्मा की प्रारम्भिक झँकी मिल जाती है।

इस श्लोक में आये *अविनिश्चितेषु* शब्द का अर्थ प्रामाणिक टीकाओं के अनुसार *स्वेदजेषु* अर्थात् पसीने से उत्पन्न है। श्रील मध्वाचार्य ने संकेत किया है *भूस्वेदेन हि प्रायोजायन्ते*—पृथ्वी की ओस को पृथ्वी का पसीना मानना चाहिए और विविध योनियाँ ओस से उत्पन्न हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (३.१.९) में प्राण के सम्बन्ध में आत्मा की स्थिति बतलाई गई है—

ऐषोऽनूरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतम् प्रजानां

यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

“आत्मा परमाणु के आकार का होता है और परिपूर्ण बुद्धि के द्वारा ही अनुभवगम्य है। यह परमाणु तुल्य आत्मा पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में तैरता रहता है। आत्मा हृदय के भीतर स्थित है और यह शरीरधारी जीवों के पूरे शरीर में अपना प्रभाव फैलाता है। जब

आत्मा को पाँच प्रकार की भौतिक वायु के कल्मष से शुद्ध कर दिया जाता है, तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।” इस प्रकार असंख्य योनियों में आत्मा प्राण के भीतर स्थित रहता है।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या

चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।

तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं

शाक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; अब्ज-नाभ—जिसकी नाभि कमल जैसी है, ऐसे भगवान् के; चरण—चरण; एषणया—(केवल) इच्छा करने से; उरु-भक्त्या—शक्तिशाली भक्ति द्वारा; चेतः—हृदय की; मलानि—धूल; विधमेत्—धो डालती है; गुण-कर्म-जानि—प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों के कार्यों से उत्पन्न; तस्मिन्—उस; विशुद्धे—पूर्णतया शुद्ध (हृदय); उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा का असली स्वभाव; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यथा—जिस तरह; अमल-दृशोः—शुद्ध आँखों के; सवितृ—सूर्य की; प्रकाशः—अभिव्यक्ति।

जब मनुष्य अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में स्थिर करके भगवान् की भक्ति में गम्भीरतापूर्वक संलग्न होता है, तो वह अपने हृदय के भीतर स्थित उन असंख्य अशुद्ध इच्छाओं को विनष्ट कर सकता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत उसके पूर्वकर्मों के फल के कारण संचित होती हैं। जब इस तरह हृदय शुद्ध हो जाता है, तो वह भगवान् को तथा अपने को दिव्य जीवों के रूप में प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकता है। इस तरह वह प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान में निष्णात् हो जाता है, जिस तरह कि सामान्य स्वस्थ दृष्टि द्वारा सूर्य-प्रकाश का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि मनुष्य नित्य अपरिवर्तित आत्मा की प्रारम्भिक झाँकी अपनी शान्त निद्रा के अनुभव का स्मरण करके प्राप्त कर सकता है, यद्यपि उस निद्रा में मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह निष्क्रिय थीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि गहरी निद्रा में आत्मा का प्रारम्भिक अनुभव हो जाता है, तो जागने पर मनुष्य क्यों मोहमय जगत में लौट आता है? इसका उत्तर यह होगा कि हृदय के भीतर भौतिक इच्छाएँ के घर कर जाने से बद्धजीव भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के अज्ञान का आदी हो जाता है। कोई कैदी कारागार के भीतर से बाहर के प्रकाश की झाँकी पा सकता है, तो भी वह कारागार में बन्दी बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि बद्धजीव को आत्मा की झाँकी मिल जाती है, किन्तु वह भौतिक इच्छाओं के बन्धन में जकड़ा रहता है। इसलिए भले ही मनुष्य को नश्वर

शरीर के भीतर स्थित नित्य आत्मा की या कि हृदय के भीतर आत्मा के संग रहने वाले परमात्मा की प्रारम्भिक जानकारी हो जाय, किन्तु तो भी भौतिक इच्छा को हटाने के लिए विशेष विधि की आवश्यकता पड़ती है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (८.६) में बतलाया गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

“शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस भी स्थिति का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।” मृत्यु के समय मनुष्य की इच्छा के ही अनुसार प्रकृति द्वारा उसे उपयुक्त भौतिक देह प्रदान की जाती है। *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये*—मनुष्य की सकाम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार एवं भगवान् के प्रतिनिधिरूप देवताओं की देखरेख में जीव को एक विशेष शरीर प्रदान किया जाता है, जिसे जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग जैसे कष्ट झेलने पड़ते हैं। यदि कोई किसी विशेष घटना के कारण को हटा सकता है, तो वह उसके प्रभाव(कार्य) को भी हटा सकता है। इसलिए यह श्लोक बतलाता है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण की ही कामना करनी चाहिए। उसे भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम की भ्रामक इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए, क्योंकि ऐसी इच्छाएँ और भी भौतिक बन्धन का कारण बनती हैं। मनुष्य को अपना मन भगवान् कृष्ण में स्थिर करना चाहिए, जिससे मृत्यु के समय वह कृष्ण को अवश्य स्मरण कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.५) में भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

“जो कोई भी जीवन के अन्त में केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।” भगवान् कृष्ण सबों के वास्तविक आश्रय हैं। और ज्योंही भक्तियोग के माध्यम से किसी का हृदय निर्मल हो जाता है, त्योंही वह भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

भगवद्गीता में भगवान् को प्राप्त करने की अवस्था का वर्णन इन शब्दों में हुआ है— *ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्* और कभी कभी निर्विशेषवादी इन शब्दों को तोड़-मरोड़ कर इनमें *ब्रह्म-सायुज्यम्* का वर्णन पाते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य को अपना मन तथा अपनी भक्ति *अब्ज-नाभ* अर्थात् भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए। यदि जीव भगवान् के तुल्य होता, तो वह अपनी शुद्धि के लिए केवल स्वयं को सोचता। किन्तु तब भी एक विरोधाभास उठ खड़ा होता—भगवान् को शुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि *भगवद्गीता* में उन्हें परम शुद्ध—*पवित्रं परमम्*—कहा गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैदिक साहित्य के कथनों को तोड़-मरोड़ कर निर्विशेषवादी अर्थ निकालने का प्रयत्न न करे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि इस श्लोक में इंगित भक्ति की पूर्णावस्था को ध्रुव महाराज जैसे महान् भक्तों के कार्यों में देखा जा सकता है। ध्रुव महाराज भगवान् के पास भौतिक स्तर पर राजनीतिक समझौते की इच्छा से गये थे, किन्तु जब वे भगवन्नाम का कीर्तन करके शुद्ध हो गये (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*) तो उन्हें और अधिक इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता नहीं रही। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध में कहा गया है *जनयत्याशु वैराग्यम्*—ज्योंही मनुष्य भक्ति में आगे बढ़ता है, तो वह ऊपरी भौतिक इच्छाओं की झंझट से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में *उपलभ्यत आत्मतत्त्वम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि *आत्मतत्त्वम्* भगवान् के साथ साथ उनके विविध अंशों के ज्ञान को भी सूचित करता है—यथा निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा स्वयं तटस्थ जीव भी। *साक्षात्* शब्द से यह सूचित होता है कि भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है भगवान् के साकार रूप, उनके हाथ-पाँव, उनके विविध दिव्य यानों तथा दासों आदि का साक्षात् दर्शन करना, जिस तरह सूर्य देव की भक्ति से क्रमशः सूर्य देव के शरीर के साथ साथ उनका रथ और उनके सेवक भी दिखने लगते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने संकेत किया है कि ३५वें श्लोक से लेकर ३९वें श्लोक तक मानक तर्क की विविध अवस्थाओं का प्रदर्शन हुआ है। श्लोक ३५ में *विषय*—सामान्य विचारधारा की स्थापना की गई है, श्लोक ३६ में *संशय* व्यक्त हुआ है, श्लोक ३७ में *पूर्वपक्ष* अर्थात् विरोधी तर्क प्रस्तुत हुआ है, श्लोक ३८ में *सिद्धान्त* अर्थात् निष्कर्ष है और श्लोक ३९ में *संगति*—सारांश—दिया

गया है। संगति अर्थात् अन्तिम शब्द यह है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त बन कर उनके चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह अपने हृदय रूपी दर्पण को स्वच्छ करके भगवान् का दर्शन उसी तरह किया जा सकता है, जिस तरह स्वस्थ २०/२० दृष्टि वाला व्यक्ति सूर्य की प्रखर किरणों को देख सकता है या सूर्य देव का उच्च भक्त सूर्य देव के साकार शरीर को देख सकता है।

श्रीराजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।

विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कर्म-योगम्—ब्रह्म से अपने कर्म को जोड़ने का अभ्यास; वदत—कृपया बतलायें; नः—हमको; पुरुषः—व्यक्ति; येन—जिससे; संस्कृतः—परिष्कृत होकर; विधूय—छूट कर; इह—इस जीवन में; आशु—तुरन्त; कर्माणि—भौतिकतावादी कर्म; नैष्कर्म्यम्—सकाम कर्मफल से मुक्ति; विन्दते—भोग करता है; परम्—दिव्य।

राजा निमि ने कहा : हे मुनियो, हमें कर्मयोग की विधि के विषय में बतलायें। परम पुरुष को अपने व्यावहारिक कर्म समर्पित करने की इस विधि से शुद्ध होकर व्यक्ति अपने को इस जीवन में भी समस्त भौतिक कार्यों से मुक्त कर सकता है और इस तरह दिव्य पद पर शुद्ध जीवन का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (३.५) में कहा गया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृतः ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

“प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।” चूँकि जीव निष्क्रिय नहीं रह सकता, अतएव उसे अपने कर्म भगवान् को समर्पित करना सीखना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भगवद्गीता के इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : “यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, परन्तु आत्मा स्वभाव से ही सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर जड़ वाहन के समान है, जो आत्मा द्वारा चालित होता है, क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सद्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए, अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में

आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है, उसके लिए कल्याणप्रद होता है।”

सामान्य लोग प्रायः कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तों के व्यस्त कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वे ऐसे कार्यों को सामान्य भौतिक कार्य समझ बैठते हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में बतलाया है कि *काम्यकर्माण्येव त्याजितानि, न तु नित्यनैमित्तिकानि, फलस्यैव विनिन्दितत्वात्।* मनुष्य को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले स्वार्थमय कार्यों को त्याग देना चाहिए, क्योंकि ऐसे विचाररहित कर्म का फल और अधिक भव-बन्धन का कारण बनता है। किन्तु उसे चाहिए कि वह अपने नियमित अथवा वृत्तिपरक कार्यों को भगवान् को समर्पित करता चले। इस तरह ये कर्म दिव्य भक्ति बन जाते हैं। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्* शब्दों के द्वारा इस अध्याय में स्पष्ट बतलाया गया है कि अपने कर्मों को भगवान् की सेवा से जोड़ देना एक कला है, जिसे प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में बैठ कर सीखना चाहिए। अन्यथा सनक में आकर अपने भौतिकतावादी कर्म को दिव्य भक्ति घोषित कर बैठने से कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकलेगा। इसलिए श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *नैष्कर्म्यम्* शब्द से निष्क्रियता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत यह शब्द भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में दिव्य कर्म को सूचित करता है।

एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।

नाब्रुवन्ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह का; प्रश्नम्—प्रश्न; ऋषीन्—ऋषियों से; पूर्वम्—इसके पहिले भी; अपृच्छम्—मैंने पूछा था; पितुः—अपने पिता (इक्ष्वाकु महाराज) के; अन्तिके—समक्ष; न अब्रुवन्—वे नहीं बोले; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; पुत्राः—पुत्र; तत्र—उसका; कारणम्—कारण; उच्यताम्—कहिये।

एक बार विगत काल में अपने पिता महाराज इक्ष्वाकु की उपस्थिति में मैंने ब्रह्मा के चार महर्षि पुत्रों से ऐसा ही प्रश्न पूछा था, किन्तु उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कृपया इसका कारण बतलायें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर के अनुसार *ब्रह्मणः पुत्राः* शब्द सनक ऋषि आदि चार कुमारों के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्रील मध्वाचार्य ने *तरंग भागवत* से एक श्लोक उद्धृत करते हुए बताया है कि महाजन तथा भक्ति-विज्ञान में दक्ष होते हुए भी ब्रह्मा के चार पुत्रों ने राजा निमि को उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया था, क्योंकि वे यह दिखला देना चाहते थे कि ज्ञान के अनुशीलन में दक्ष लोग भी भक्ति के वास्तविक विज्ञान को नहीं समझ सकते। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी टीका की है कि ऋषियों ने राजा के प्रश्नों का उत्तर इसलिए नहीं दिया, क्योंकि उस समय राजा निमि बालक थे, अतएव वे उनके उत्तर को भलीभाँति समझने में परिपक्व नहीं थे।

श्रीआविर्होत्र उवाच

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।

वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-आविर्होत्रः उवाच—आविर्होत्र ने कहा; कर्म—शास्त्रों द्वारा संस्तुत कार्यों की सम्पन्नता; अकर्म—ऐसे कार्यों को कर पाने में असफलता; विकर्म—निषिद्ध कर्मों में लगना; इति—इस प्रकार; वेद-वादः—वेदों के माध्यम से समझा गया विषय; न—नहीं; लौकिकः—संसारी; वेदस्य—वेदों का; च—तथा; ईश्वर-आत्मत्वात्—भगवान् से आने के कारण; तत्र—इस विषय में; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; सूरयः—बड़े बड़े पंडित (भी)।

श्री आविर्होत्र ने उत्तर दिया : कर्म, अकर्म तथा विकर्म ऐसे विषय हैं, जिन्हें वैदिक साहित्य के प्रामाणिक अध्ययन द्वारा ही भलीभाँति समझा जा सकता है। इस कठिन विषय को संसारी कल्पना के द्वारा कभी भी नहीं समझा जा सकता। प्रामाणिक वैदिक साहित्य भगवान् का शब्दावतार है, इस प्रकार वैदिक ज्ञान पूर्ण है। वैदिक ज्ञान की सत्ता की उपेक्षा करने से बड़े बड़े पंडित तक कर्म-योग को समझने में भ्रमित हो जाते हैं।

तात्पर्य : शास्त्र द्वारा नियत कर्तव्य कर्म कहलाते हैं और अपने सर्वोच्च कर्तव्य को न सम्पन्न कर पाना अकर्म है। निषिद्ध कर्मों को सम्पन्न करना विकर्म कहलाता है। इस प्रकार, कर्म, अकर्म तथा विकर्म की स्थापना वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्याओं द्वारा होती है। उन्हें मात्र तर्क की संसारी विधियों द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (६.१६.५१) में भगवान् कहते हैं *शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनूः* मैं वेदों की दिव्य ध्वनि का स्वरूप हूँ, जो ॐकार तथा हरे कृष्ण हरे राम के रूप में हैं, और मैं परम सत्य हूँ। ये दोनों—दिव्य वैदिक ध्वनि तथा अर्चाविग्रह का नित्य आनन्दमय स्वरूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, ये भौतिक नहीं हैं। इसी प्रकार *भागवत* में अन्यत्र (६.१.४०) कहा गया है

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम—वेद प्रत्यक्ष रूप से भगवान् नारायण हैं और स्वयम्भू हैं। ऐसा हमने यमराज से सुना है। पुरुष सूक्त (ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ९०, मंत्र ९) में कहा गया है—
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्—उस यज्ञ से सभी की आहुतियाँ, आवाह स्तुतियाँ तथा प्रशंसा-गीत उत्पन्न हुए। वेदों के सारे मंत्र भगवान् से उत्पन्न हुए। भगवान् के सारे अवतार पूर्णतया दिव्य हैं और बद्ध जीवन के चार दोषों—भूल, मोह, ठगी तथा अपूर्ण इन्द्रियों—से मुक्त हैं। इस तरह वैदिक ज्ञान भगवान् का स्वांश होने से, उन्हीं की तरह अच्युत तथा दिव्य है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् की माया से नियंत्रित इस भौतिक जगत में किसी शब्द-ध्वनि को उसके लक्ष्य को बताकर त्याग दिया जाता है। किन्तु वैकुण्ठ-लोक में कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। इस तरह शब्द ब्रह्म नित्य है।

सामान्य बातचीत में शब्दों का अर्थ वक्ता के मनोभाव को समझ कर निश्चित किया जाता है। किन्तु वैदिक ज्ञान के अपौरुषेय अथवा दिव्य होने से उसे शिष्य-परम्परा से प्राप्त आदर्श विद्वान से ही सुन कर समझा जा सकता है। इस विधि की संस्तुति स्वयं भगवान् ने भगवद्गीता में की है (एवं परम्पराप्राप्तम्)। इस तरह वैदिक ज्ञान के चरम अर्थ को निश्चित कर पाने में बड़े बड़े विद्वान जो अहंकार में इस परम्परा की उपेक्षा करते हैं, मोहग्रस्त हो जाते हैं, ब्रह्मा के चारों पुत्रों ने राजा निमि के प्रश्नों का उत्तर देने से इसलिए इनकार कर दिया, क्योंकि उस समय राजा निरे बालक थे, अतएव परम्परा-प्राप्त श्रवण-विधि की शरण में आ पाने में असमर्थ थे। श्रील मध्वाचार्य ने इस सम्बन्ध में इंगित किया है—ईश्वरात्मत्वाद् ईश्वरविषयत्वात्। चूँकि सारे वेद असीम भगवान् का वर्णन करते हैं, अतएव समझने की सांसारिक विधियों से वैदिक ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।

कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

परोक्ष-वादः—किसी वस्तु के असली स्वरूप को छिपाने के लिए उसे अन्य रूप में प्रस्तुत करना; वेदः—वेद; अयम्—ये; बालानाम्—बचकाने लोग; अनुशासनम्—निर्देशन; कर्म-मोक्षाय—भौतिक कार्यों से मुक्ति के लिए; कर्माणि—भौतिक कार्य; विधत्ते—संस्तुति करते हैं; हि—निस्सन्देह; अगदम्—औषधि; यथा—जिस तरह।

बचकाने तथा मूर्ख लोग भौतिकतावादी सकाम कर्मों के प्रति आसक्त रहते हैं, यद्यपि जीवन का वास्तविक लक्ष्य ऐसे कर्मों से मुक्त बनना है। इसलिए वैदिक आदेश सर्वप्रथम सकाम

धार्मिक कर्मों की संस्तुति करके मनुष्य को परोक्ष रीति से चरम मोक्ष के मार्ग पर ले जाते हैं, जिस तरह पिता अपने पुत्र को दवा पिलाने के लिए उसे मिठाई देने का वादा करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* वेद प्रकृति के तीनों गुणों के ही अन्तर्गत सकाम फल प्रदान करते हैं। जो लोग सतोगुणी कर्मकाण्ड या तपस्या करते हैं, उन्हें स्वर्गलोक जाने का अवसर प्रदान किया जाता है। *अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।* इसी तरह जो लोग रजोगुण के अन्तर्गत कर्मकाण्ड या सकाम धार्मिक कर्म करते हैं उन्हें इसी पृथ्वी पर महान् शासक या धनिक बनने और महान् प्रतिष्ठा तथा पार्थिव शक्ति भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु जैसाकि *मनु-संहिता* में कहा गया है : *प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला—* यद्यपि बद्धजीवों में कर्मकाण्ड अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वास्तविक जीवन-सिद्धि तो तब मिलती है, जब कोई व्यक्ति सारे सकाम प्रयास छोड़ देता है।

यदि पिता अपने बच्चे से कहता है, “मेरा आदेश है, तुम दवा पिओ” तो वह बच्चा डर सकता है और उत्पात मचाकर दवा को ग्रहण नहीं करता। इसलिए पिता उस सन्तान को यह कह कर लुभाता है, “मैं तुम्हें स्वादिष्ट मिठाई दूँगा, किन्तु तब, जब तुम यह दवा पी लो।” ऐसा अप्रत्यक्ष फुसलाना *परोक्षवादः* कहलाता है—परोक्ष वर्णन जिसमें वास्तविक अभिप्राय को छिपा लिया जाता है। पिता अपनी सन्तान के समक्ष अपना प्रस्ताव इस रूप में रखता है, मानो असली उद्देश्य मिठाई प्राप्त करना है, जिसे पाने के लिए छोटी-सी शर्त पूरी करनी है। किन्तु वस्तुतः पिता का लक्ष्य बच्चे को दवा पिलाकर उसे रोग से मुक्त कराना है। इस प्रकार मूल प्रयोजन को परोक्ष रूप से बताना और गौण प्रस्ताव से उसे छिपाना *परोक्षवाद* कहलाता है।

चूँकि अधिकांश बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति के आदी होते हैं (*प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्*) इसलिए वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान उन्हें स्वर्ग जाने या पृथ्वी पर शासन करने का पद प्रदान करने जैसे लोभ दिखलाकर उन्हें क्षणिक भौतिकतावादी इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को छुड़ाने का अवसर प्रदान करते हैं। समस्त वैदिक अनुष्ठानों में विष्णु की पूजा की जाती है। इस तरह मनुष्य को धीरे धीरे यह समझने दिया जाता है कि उसका हित विष्णु की शरण जाने में है। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* ऐसी परोक्ष विधि *बालानाम्* अर्थात् मूर्खों के लिए है। बुद्धिमान व्यक्ति परोक्ष विधि से तुरन्त ही वैदिक साहित्य के

वास्तविक प्रयोजन को समझ लेता है, जैसाकि स्वयं भगवान् ने बतलाया है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*) । समस्त वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त करना है। ऐसी शरण के बिना मनुष्य माया द्वारा प्रदत्त ८४,००,००० योनियों में चक्कर लगाता रहता है। सामान्य रूप से भौतिक दृष्टि अपूर्ण ज्ञान प्रदान करती है, जो भ्रामक भौतिक भोग की इच्छा से विकृत होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका है कि बद्धजीवों के लिए निर्विशेष आत्म-साक्षात्कार का अनुशीलन भी एक उत्पात है, क्योंकि निर्विशेष चिन्तन विधि एकदम रूपविहीन बनने का कृत्रिम प्रयास है। ऐसा प्रयास वेदों के उस सही निर्णय के अनुसार नहीं है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*) ।

श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में व्यर्थ ही सकाम फल पाने की और धीरे धीरे वास्तविक ज्ञान की ओर खींचे जाने की आवश्यकता नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

कलियुग में जीवन अत्यल्प है (*प्रायेणाल्पायुषः*) और लोग सामान्य रूप से उद्धत (*मन्दाः*), कुमार्गगामी (*सुमन्दमतयः*) तथा अपने पूर्वकर्मों के प्रतिकूल फलों से अभिभूत (*मन्दभाग्याः*) होते हैं। इस तरह उनके मन कभी भी शान्त नहीं रहते (*उपद्रुताः*) और उनकी अल्पायु उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के मार्ग से धीरे धीरे प्रगति करने की संभावना से विचलित करती है। इसलिए एकमात्र यही आशा बचती है कि भगवान् के नाम *हरेर्नाम* का कीर्तन किया जाय। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में कहा गया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥

कलियुग दिखावे तथा प्रदूषण का सागर है। कलियुग में सारे प्राकृतिक तत्त्व यथा जल, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—प्रदूषित हो चुके हैं। इस पतित युग का केवल एक ही शुभ पक्ष है और वह है भगवन्नाम का कीर्तन (*अस्ति ह्येको महान् गुणः*) । एकमात्र कृष्ण-कीर्तन की उल्लासमयी विधि से मनुष्य इस पतित युग के साथ जुड़े सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है (*मुक्तसंगः*) और वापस घर

को अर्थात् भगवद्धाम जा सकता है (परं व्रजेत्) । कभी कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक भी परोक्षवाद का प्रयोग करते हैं—वे बद्धजीवों को मुग्ध करने के लिए अच्छी अच्छी मिठाइयाँ देते हैं, जिससे वे भगवान् के चरणकमलों में आयें । चैतन्य महाप्रभु का आन्दोलन केवल आनन्दकाण्ड अर्थात् केवल आनन्द है । किन्तु महाप्रभु की दया से कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति परोक्ष रूप से आकृष्ट व्यक्ति भी शीघ्र ही जीवन-सिद्धि प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जाता है ।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।

विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न आचरेत्—नहीं करता है; यः—जो; तु—लेकिन; वेद-उक्तम्—वेदों में संस्तुत किया हुआ; स्वयम्—खुद; अज्ञः—अज्ञानी; अजित-इन्द्रियः—जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; विकर्मणा—शास्त्र-कर्म न करने से; हि—निस्सन्देह; अधर्मेण—अधर्म द्वारा; मृत्योः मृत्युम्—मृत्यु के बाद फिर मृत्यु; उपैति—प्राप्त करता है; सः—वह ।

यदि कोई अज्ञानी जिसने भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह वैदिक आदेशों में अटल नहीं रहता, तो वह निश्चय ही पापमय तथा अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहेगा । इस तरह उसको बारम्बार जन्म-मृत्यु भोगना पड़ेगा ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि यद्यपि वेदों में सकाम कर्म की संस्तुति की गई है, किन्तु मनुष्य-जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने को समस्त भौतिकतावादी कार्यकलापों से मुक्त करना है । इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने की कोई जरूरत नहीं है, जो संयमित इन्द्रिय-तृप्ति प्रदान करने वाले हैं । किन्तु अज्ञानी व्यक्ति, या यों कहें कि जिसने यह नहीं समझा कि वह भौतिक शरीर नहीं, अपितु कृष्ण का अंशरूप नित्य आत्मा है, वह अपनी भौतिक इन्द्रियों के वेगों को वश में करने में अक्षम होगा । इस तरह संयमित इन्द्रिय-तृप्ति का भोग बताने वाले वैदिक आदेशों की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति पापपूर्ण असंयमित इन्द्रिय-तृप्ति के गड्डे में जा गिरता है । उदाहरणार्थ, जो लोग मैथुन-इच्छा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें विवाह यज्ञ करने का आदेश दिया जाता है । हम प्रायः देखते हैं कि तथाकथित ब्रह्मचारी मिथ्या गर्व के कारण विवाह को माया कह कर तिरस्कृत करते हैं । किन्तु यदि ऐसा ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाता, तो वह निस्सन्देह अवैध यौन में रत होकर जिसका वैदिक संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपने को नीचे गिरायेगा । इसी तरह कृष्णभावनामृत के नौसिखिया को जी-भरकर कृष्ण प्रसादम् खाने के लिए

प्रोत्साहित किया जाता है। कभी कभी भक्तियोग का कच्चा अभ्यासकर्ता विकट भोजन की आदतें प्रदर्शित करने लगता है, जिसके कारण वह असंयमित तथा गर्हित भोज्य वस्तुएँ खाने लगता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *मृत्योर्मृत्युम् उपैति* शब्दों का अर्थ यह है कि मृत्यु के स्वामी यमराज पापी व्यक्ति को नर्क जाने का मुफ्त टिकट काट देते हैं। इसी का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है : *मृत्वा पुनर्मृत्युम् आपद्यते अर्द्यमानः स्वकर्माभिः*—जो लोग अपने भौतिकतावादी कर्मों से अपने को असह्य पीड़ा पहुँचाते हैं, उन्हें मृत्यु के समय शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उन्हें पुनः ऐसी स्थिति में डाल दिया जायेगा, जिसमें मृत्यु होनी है। इसलिए जिनकी इन्द्रियाँ अभी वश में नहीं हुई हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्डों का यथा विवाह या *यज्ञशिष्ट* का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले श्लोक में बच्चे को दवा पिलाने के लिए पिता द्वारा मिठाई से, उसे लुभाये जाने का उदाहरण दिया गया था। यदि बच्चा यह सोच कर पिता की दी हुई मिठाई त्याग देता है कि वह अनावश्यक है, तो वह बालक उस दवा को पीने का अवसर हाथ से चला जाने देता है, जो उसे स्वस्थ बनाने वाली है। इसी तरह, यदि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति निर्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वैदिक आदेशों को टुकराता है, तो वह शुद्ध नहीं बन सकता, अपितु वह और भी पतित होगा। श्रील जीव गोस्वामी ने भौतिकतावादी व्यक्ति का वर्णन उस व्यक्ति के रूप में किया है, जिसका मन तथा बुद्धि भगवान् के सन्देश में श्रद्धापूर्वक स्थिर नहीं रहते। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाले बद्धजीवों को जीवन के वास्तविक लक्ष्य के विषय में अद्भुत बातें बताई हैं। जो व्यक्ति इन उपदेशों में अपने मन को स्थिर नहीं कर पाता, उसे ऐसा भौतिकतावादी व्यक्ति मानना चाहिए, जो पापकर्मों में रुचि रखता है और अतएव जिसे आदर्श वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे वैदिक आदेश श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सकाम होते हुए भी *पुण्य* माने जाते हैं, अतएव जो इनका दृढ़ता से पालन करता है, उसे नर्क नहीं जाना पड़ता। स्वयं भगवान् ने *भागवत* (११.२०.९) में कहा है—

तावत कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

“मनुष्य को तब तक वैदिक कर्मकाण्ड करते रहना चाहिए, जब तक वह भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त नहीं हो जाता और मेरे विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि वेदों में संस्तुति की गई है कि मनुष्य प्रातःकाल उठे, स्नान करे और गायत्री मंत्र का उच्चारण करे। यदि वह ऐसे अनुशासित संयमित जीवन को जान-बूझकर त्यागता है, तो वह धीरे धीरे स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कर्म करने लगता है—अर्थात् वह होटलों में भोजन करता है और स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध बनाता है। इस तरह अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने से वह पशुवत् बन जाता है। श्रील मध्वाचार्य ने इस सन्दर्भ में टीका की है : अज्ञः सत्राचरन्नपि। भले ही अज्ञान में सही, किन्तु अपने कर्मों का भावी फल न सोच कर वह कर्म करता जाता है। भगवद्गीता में अपने कर्मों के भावी फल के प्रति उदासीनता को तमोगुण का लक्षण बतलाया गया है। जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे मार्ग में मोटर-कार नहीं चलायेगा, जिसमें खतरा हो, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति अवैदिक कर्म नहीं करेगा, यदि वह यह जानता है कि अन्तिम परिणाम विपत्ति के रूप में होगा, जिसे यहाँ मृत्योः मृत्युमुपैति शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है कि अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी सोचते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य को स्वयमेव शान्ति प्राप्त होगी। किन्तु पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को सबसे अधिक अशान्त दशा प्राप्त होती है, क्योंकि भौतिक कर्म के क्षणिक फल के बदले में मनुष्य को नर्क-यातना भोगनी ही पड़ेगी। ऐसी नारकीय दशा एक बार नहीं, अपितु सदा के लिए और बारम्बार भोगनी होगी, जब तक मनुष्य वैदिक आदेशों से विमुख रहेगा।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।

नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वेद-उक्तम्—वेदों में वर्णित नियमित कर्म; एव—निश्चय ही; कुर्वाणः—करते हुए; निःसङ्गः—किसी आसक्ति के बिना; अर्पितम्—प्रदत्त; ईश्वरे—भगवान् को; नैष्कर्म्यम्—भौतिक कर्म तथा इसके फलों से मुक्ति के; लभते—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि; रोचन-अर्था—प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से; फल-श्रुतिः—वैदिक शास्त्रों में दिये गये भौतिक फल के वायदे।

निर्लिप्त होकर वेदों द्वारा निर्दिष्ट नियमित कार्यों को सम्पन्न करने और ऐसे कार्य के फल भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य को भौतिक कर्म के बन्धन से मुक्ति रूपी सिद्धि मिल जाती

है। प्रामाणिक शास्त्रों में प्रदत्त भौतिक कर्मफल वैदिक ज्ञान के चरम लक्ष्य नहीं हैं, अपितु कर्ता में रुचि उत्पन्न कराने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : मनुष्य-जीवन प्रकृति के नियमों द्वारा बद्धजीव को प्रदत्त किया गया अवसर है, जिससे वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझ सके। दुर्भाग्यवश मनुष्य-योनि में भी जीव भोजन, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन जैसी पाशविक वृत्तियों के स्तर को बढ़ाने में लगा रहता है। लगभग कोई भी व्यक्ति जीवन की वास्तविक सफलता—कृष्णभावनामृत—के प्रति रुचि नहीं लेता।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।

अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

“जो लोग भौतिकता में बुरी तरह उलझे हैं और परम सत्य के ज्ञान के विषय में अंधे हैं, उन्हें हे सम्राट! मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय हैं।” (भागवत २.१.२)

कहा गया है कि *परमकारुणिको वेदः*—वैदिक ज्ञान अत्यन्त कृपालु है—क्योंकि यह पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों को शुद्धि की क्रमिक प्रक्रिया में लगाता है, जिसकी चरम परिणति भगवान् कृष्ण की परम चेतना है। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में हुई है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। अधिकांश मनुष्य भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति को सहसा त्याग नहीं पाते। यद्यपि वैदिक साहित्य से वे यह समझते हैं कि ऐसी इन्द्रिय-तृप्ति का भविष्य में घातक प्रभाव पड़ता है। हमें पाश्चात्य देशों में इसका व्यावहारिक अनुभव हुआ जब सरकार ने नागरिकों को सूचित किया कि सिगरेट पीने से फेफड़े का कैंसर होता है, तो अधिकांश लोग अपनी घूम्रपान की आदत नहीं छोड़ पाये। इसलिए वैदिक साहित्य शुद्धि की मन्द प्रक्रिया की संस्तुति करता है, जिसमें बद्धजीव अपने भौतिक कर्मों का फल भगवान् को अर्पित करना सीखता है और इस तरह उन कर्मों को आध्यात्मिक बनाता है। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति दो अंगों पर आधारित है—स्वाद चखने के लिए जीभ तथा यौन-जीवन के लिए जननेन्द्रियाँ। कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्वादिष्ट भोजन भेंट करके तब उच्छिष्ट को कृष्ण-प्रसादम् के रूप में खाने और वैदिक गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों को स्वीकार कर कृष्णभावनाभावित सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य सारे भौतिक कर्मों को शुद्ध भक्ति का पद प्रदान करा सकता है। अपने सामान्य कार्यों के फल को भगवान् को अर्पित करने से मनुष्य धीरे धीरे समझता है कि साक्षात् भगवान् ही जीवन के वास्तविक लक्ष्य हैं,

भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति नहीं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में आगाह किया है कि यदि लोगों को समय से पूर्व गृहस्थ जीवन या भगवान् के भव्य प्रसाद के उच्छिष्ट को त्यागने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, तो ऐसे कृत्रिम त्याग से विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

ऐसे छद्मी लोगों का एक वर्ग है, जो वेदों के दिव्य प्रयोजन का गलत अर्थ लगाकर झूठे ही दावा करता है कि स्वर्ग जाने जैसा कर्मफल, जो कि अग्निष्टोम यज्ञ में प्रदान किया जाता है, वेदों का चरम लक्ष्य है। ऐसे मूर्ख लोगों का वर्णन भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार किया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

“अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण ही, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।” (भगवद्गीता २.४२-४३) वैदिक अभिप्राय के ऐसे मूर्खतापूर्ण ज्ञान का खंडन करने के लिए इस श्लोक में *निःसंगः* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है “भौतिक परिणाम के प्रति अनासक्ति।” वेदों का वास्तविक प्रयोजन *अर्पितम् ईश्वरे* अर्थात् भगवान् को हर वस्तु अर्पित करना है। परिणाम होता है *सिद्धिम्* अर्थात् जीवन की पूर्णता या कृष्णभावनामृत।

रोचनार्था फलश्रुतिः शब्द स्पष्ट इंगित करते हैं कि वैदिक साहित्य में जिन कर्मफलों का वायदा किया गया है वे भौतिकतावादी पुरुष में वैदिक आदेशों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए हैं। यहाँ पर यह उदाहरण दिया जाता है कि बच्चे को मिश्री से लेपित दवा दी जाती है। बालक दवा लेने के लिए इसलिए प्रोत्साहित होता है, क्योंकि उसमें मिश्री का लेप लगा है, जबकि प्रौढ़ व्यक्ति सीधे दवा ले लेगा, क्योंकि वह जानता रहता है कि यह दवा उसके वास्तविक हित में है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.२२) में वैदिक ज्ञान के परिपक्व पद का उल्लेख हुआ है : *तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन च*—वेदों की शिक्षा देने से तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या,

श्रद्धा तथा नियमित भोजन से बड़े बड़े ब्राह्मणगण परम पुरुष को जान पाते हैं। यह परम पुरुष कृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। यद्यपि कभी कभी वेदों के बताये गये अनुष्ठान भौतिक सकाम कर्म के सदृश लग सकते हैं, किन्तु यह कर्म आध्यात्मिक बन जाता है, क्योंकि इसका फल ब्रह्म को अर्पित रहता है। मिश्री-लेपित दवा तथा सामान्य मिश्री देखने या स्वाद में एक-जैसी हो सकती है। किन्तु मिश्री-लेपित दवा में, जो औषधीय गुण है, वह सामान्य मिश्री में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार इस श्लोक में आए शब्द *नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिम्* से यह सूचित होता है कि वैदिक आदेशों का पालनकर्ता क्रमशः जीवन की सर्वोच्च सिद्धि, शुद्ध भगवत्प्रेम, को प्राप्त होता है जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*प्रेमा पुमर्थो महान्*) ।

य आशु हृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेदेवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; आशु—शीघ्रता से; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदय की गाँठ को (भौतिक देह से झूठी पहचान); निर्जिहीर्षुः—काटने का इच्छुक; परात्मनः—दिव्य आत्मा का; विधिना—विधानों से; उपचरेत्—उसे पूजा करनी चाहिए; देवम्—भगवान्; तन्त्र-उक्तेन—तंत्रों द्वारा वर्णित; च—तथा (वेदोक्तम के अतिरिक्त); केशवम्—भगवान् केशव को।

जो व्यक्ति आत्मा को जकड़कर रखने वाली मिथ्या अहंकार की गाँठ को तुरन्त काट देने का इच्छुक होता है, उसे वैदिक ग्रंथों यथा तंत्रों में प्राप्त अनुष्ठानों के द्वारा, भगवान् केशव की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथों में परम सत्य के ऐसे गुह्य वर्णन मिलते हैं, जो दार्शनिक चिन्तन के लिए प्रेरित करते हैं। जो लोग कर्मकाण्ड का पालन करते हैं, उन्हें वेद स्वर्गिक फल प्रदान करते हैं। किन्तु जैसाकि इस अध्याय के श्लोक ४४ में कहा गया है वेदों के ऐसे ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड *बालानाम् अनुशासनम्* हैं—अर्थात् वेदों के ये खण्ड उन अल्पज्ञों या बचकाने लोगों को आकृष्ट करने के लिए हैं, जो ज्ञान तथा कर्म के प्रति आसक्त रहते हैं, ताकि वे वैदिक आदेशों का सहारा लेकर कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद तक क्रमशः उन्नति कर सकें।

चूँकि भौतिकतावादी लोगों के लिए अनेक श्लोकों में मार्ग बतलाया जा चुका है, अतः यह श्लोक *विज्ञः* अर्थात् विद्वान् अध्यात्मवादियों के लिए विधि बतलाने वाला है। ऐसे विद्वान् अध्यात्मवादियों को नियमित पूजा करने की सलाह दी जाती है, जिसका वर्णन भगवान् को प्रत्यक्ष प्रसन्न करने के लिए श्री

नारदपञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों में हुआ है। उपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् वाक्य यह इंगित करता है कि भगवान् केशव की प्रत्यक्ष पूजा की जाय, जो अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं। श्रील जयदेव गोस्वामी ने भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपने उस गीत में किया है, जिसमें भगवान् केशव के प्रमुख दश अवतार वर्णित हैं—ये हैं मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंहदेव, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि। उपचरेद् देवम् शब्द भगवान् की भक्ति के सूचक हैं। इसलिए तन्त्रोक्तेन शब्द से श्री नारद पञ्चरात्र जैसे वैष्णव तंत्रों का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए, जिसमें केशव की पूजा करने की स्पष्ट एवं विस्तृत विधि दी गई है। वेदों का द्योतन निगम शब्द द्वारा किया गया है। इन निगमों की विस्तृत व्याख्या आगम या तंत्र कहलाती है। जब दिव्य जीव भौतिक शरीर के द्वन्द्वों से बेहूदा तरीके से त्रस्त होने लगता है, तो वह अपनी दिव्य स्थिति के विषय में वेदों से सुनना चाहता है। आशु शब्द द्योतन करता है कि जो लोग इस संसार से जल्दी छुटकारा पाने के इच्छुक हैं और पूर्ण ज्ञान के नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें पिछले श्लोकों में वर्णित प्राथमिक वैदिक अनुष्ठानों को एक ओर रख कर सीधे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

लब्ध्वानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।

महापुरुषमभ्यर्चन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; अनुग्रहः—कृपा; आचार्यात्—गुरु से; तेन—उसके द्वारा; सन्दर्शित—दिखाया जाकर; आगमः—वैष्णव तंत्रों (द्वारा दी गई पूजा-विधि); महा-पुरुषम्—परम पुरुष को; अभ्यर्चन्—शिष्य को चाहिए कि पूजे; मूर्त्या—विशेष साकार रूप में; अभिमतया—जिसे अच्छा समझा जाय; आत्मनः—अपने से।

शिष्य को वैदिक शास्त्रों के आदेश बतलाने वाले अपने गुरु की कृपा प्राप्त करके, उसे चाहिए कि वह भगवान् के अत्यन्त आकर्षक किसी विशिष्ट साकार रूप में, परमेश्वर की पूजा करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार लब्ध्वानुग्रहः शब्द गुरु द्वारा औपचारिक दीक्षा का सूचक है। पद्म पुराण में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

प्रामाणिक गुरु को भगवान् के चरणकमलों में शरणागत जीव होना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम् ।

गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः ॥

“जब कोई अपने ही गुरु को त्याग देता है, तो वह अपनी बुद्धि को कलुषित करता है और चरित्र की अतीव दुर्बलता को प्रकट करता है। निस्सन्देह ऐसा व्यक्ति भगवान् हरि को पहले ही त्याग चुका होता है।” प्रामाणिक शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसका सारा वैदिक ज्ञान उसके प्रामाणिक गुरु की कृपा से ही प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति ऊपर से या सनकवश प्रामाणिक वैष्णव गुरु को अपनाता तथा त्यागता है और कभी कभी अन्य गुरु की ओर आकृष्ट होता है, तो वह *वैष्णव अपराध* करता है, जो भगवद्भक्तों के विरुद्ध एक महान् अपराध होता है। कभी कभी मूर्ख नौसिखिया भूल से सोचता है कि गुरु के साथ उसका सम्बन्ध शिष्य की इन्दिय-तृप्ति के लिए है, इसलिए आध्यात्मिक आकांक्षाओं के नाम पर ऐसा मूर्ख अपने प्रामाणिक वैष्णव गुरु का परित्याग कर देता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को गुरु का नित्य दास माने। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने *नारदपञ्चरात्र* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् ।

पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः ॥

“जिसने अवैष्णव से मंत्र-दीक्षा ली है, उसे नर्क जाना होगा। अतएव उसे निर्धारित विधि से वैष्णव गुरु द्वारा उचित ढंग से पुनः दीक्षित हो लेना चाहिए।” प्रामाणिक गुरु का यह कर्तव्य है कि वह शिष्य की योग्यता का सतर्कतापूर्वक परीक्षण करे। इसी तरह शिष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाये। अन्यथा मूर्ख शिष्य तथा मनमाना गुरु दोनों ही प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होते हैं।

मनुष्य को वैदिक ज्ञान की समस्त विवादास्पद लगने वाली शाखाओं को कृत्रिम रूप से आत्मसात् नहीं करना चाहिए। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।* बद्धजीवों की विविध प्रकृतियाँ विरोधी हैं, जो विरोधी वैदिक आदेशों अर्थात् *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति मार्ग* में लगी होती हैं। किन्तु सबसे सरल मार्ग है कि *अद्वय ज्ञान* भगवान् विष्णु की नियमित पूजन-विधि को ही सीखा जाय। वेदों में वर्णित सारे देवतागण भगवान्

विष्णु की सेवा के निमित्त साज-सामग्री हैं। इस दृश्य जगत में जो कुछ पाया जाता है, वह भी भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त है, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सेवा के लिए उपयोगी वस्तुओं का बनावटी परित्याग करता है, तो वह हर वस्तु को कृष्ण के आनन्द हेतु देखने की दिव्य योग्यता खो बैठता है और भौतिक वस्तुओं को अपनी इन्द्रियों के भोग हेतु मानने पर विवश हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, भौतिक वस्तुओं को परमेश्वर के आनन्द के अनुसार स्वीकार करना या त्यागना चाहिए। अन्यथा वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जायेगा। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *लब्धवानुग्रह आचार्यात्*—ऐसा विवेक तभी सीखा जा सकता है, जब उसे प्रामाणिक गुरु की कृपा प्राप्त हो। गुरु ही सच्चे शिष्य को वैदिक ज्ञान की व्यावहारिकता बतलाता है।

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।

पिण्डं विशोध्य सत्र्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शुचिः—स्वच्छ; सम्मुखम्—(अर्चाविग्रह के) समक्ष; आसीनः—बैठे हुए; प्राण-संयमन-आदिभिः—प्राणायाम इत्यादि विधियों से; पिण्डम्—स्थूल शरीर; विशोध्य—शुद्ध करके; सत्र्यास—शरीर के विभिन्न स्थानों पर तिलक लगाकर; कृतरक्षः—इस तरह भगवान् द्वारा सुरक्षा का आवाहन करके; अर्चयेत्—पूजे; हरिम्—भगवान् हरि को।

अपने को स्वच्छ बनाकर, शरीर को प्राणायाम, भूत-शुद्धि तथा अन्य विधियों से शुद्ध करके एवं सुरक्षा के लिए शरीर में पवित्र तिलक लगाकर, अर्चाविग्रह के समक्ष बैठ जाना चाहिए और भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : प्राणायाम शरीर के भीतर श्वास रोकने की प्रामाणिक वैदिक विधि है। इसी प्रकार भूत-शुद्धि शरीर को शुद्ध करने की विधि है। शुचिः शब्द का अर्थ है, वह जो भीतर तथा बाहर से शुद्ध है। शुचिः का अर्थ है कि केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म किया जाय। यदि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् को किसी तरह निरंतर स्मरण किया जाय, तो मनुष्य को जीवन की शुद्ध अवस्था प्राप्त होगी, जैसाकि इस वैदिक मंत्र में वर्णन हुआ है—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

यः स्मरेत पुण्डरीकाक्षं स ब्रह्माभ्यन्तर शुचिः ॥

(गरुड़ पुराण)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि चाहे कोई अपने शरीर में पवित्र तिलक छाप ले, चाहे मुद्राएँ करे और मंत्रोच्चार करे, किन्तु यदि वह अपने मन में इन्द्रिय-तृप्ति का चिन्तन करता रहता है, तो उसकी श्री हरि पूजा व्यर्थ है। अतः यहाँ पर शुचिः शब्द यह सूचित करता है कि भगवान् को पवित्र मान कर और अपने को भगवान् का तुच्छ दास समझ कर सही मन से भगवान् की पूजा की जाय। जो लोग भगवान् के प्रति उन्मुख नहीं होते, वे मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा नहीं करना चाहते और लोगों को यह कह कर भगवान् के मन्दिर में जाने से हतोत्साहित करते हैं कि जब भगवान् सर्वव्यापक हैं, तो फिर ऐसा करने की क्या जरूरत? ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति हठयोग या राजयोग को सम्पन्न करना अधिक ठीक समझते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् के कथन, यथा वासुदेवः सर्वमिति तथा मामेकं शरणं ब्रज यह सूचित करते हैं कि परिपक्व दिव्य अनुभूति होने पर मनुष्य यह समझता है कि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतएव वे ही एकमात्र आराध्य हैं। इस तरह, जो लोग पञ्चरात्र विधि से भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, वे भक्तियोग के अलावा अन्य किसी योग-विधि द्वारा आकृष्ट नहीं होते।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।

द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥

पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।

हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चाविग्रह तथा अपनी साज-सामग्री के रूप में; हृदये—हृदय में; च अपि—भी; यथा-लब्ध—जो भी प्राप्त हो; उपचारकैः—पूजा की सामग्री से; द्रव्य—अर्पित की जाने वाली वस्तुएँ; क्षिति—पृथ्वी; आत्म—अपना मन; लिङ्गानि—तथा अर्चाविग्रह; निष्पाद्य—तैयार करके; प्रोक्ष्य—शुद्धि के लिए जल छिड़क कर; च—तथा; आसनम्—बैठने का आसन; पाद्य-आदीन्—अर्चाविग्रह का चरण धोने तथा अन्य कार्यों के लिए जल; उपकल्प्य—तैयार होकर; अथ—तब; सन्निधाप्य—अर्चाविग्रह को उचित स्थान पर रख कर; समाहितः—मन को एकाग्र करके; हृत्-आदिभिः—अर्चाविग्रह के हृदय तथा अन्य अंगों में; कृत-न्यासः—पवित्र चिह्न बनाकर; मूल-मन्त्रेण—अर्चाविग्रह की पूजा के लिए उपयुक्त मंत्र से; च—तथा; अर्चयेत्—पूजा करे।

भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह की पूजा के लिए, जो भी वस्तुएँ उपलब्ध हों, उन्हें एकत्र करे, भेंट सामग्री, भूमि, अपना मन तथा अर्चाविग्रह को तैयार करे, अपने बैठने के स्थान को शुद्ध करने के लिए पानी छिड़के और फिर स्नान के लिए जल तथा अन्य साज-सामग्री तैयार करे। इसके बाद भक्त को चाहिए कि अर्चाविग्रह को शरीर से तथा अपने मन से उसके सही

स्थान पर रखे, वह अपना ध्यान एकाग्र करे और अर्चाविग्रह के हृदय पर तथा शरीर के अन्य अंगों पर तिलक लगाये। तब उपयुक्त मंत्र द्वारा पूजा करे।

तात्पर्य : अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

(पद्म पुराण)

परम सत्य को कभी भी सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से नहीं जाना जा सकता। भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे व्यर्थ ही व्यस्त रहने वाले बद्धजीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभाक्ति से पूरी तरह अनमने रहते हैं। उनके भौतिकता से बद्ध मन सदैव भौतिक द्वन्द्वों—यथा सम्पन्नता-विपन्नता, ग्रीष्म-शीत, यश-अपयश, यौवन-जरा के अनन्त प्रवाह द्वारा क्षुब्ध एवं मलिन होते रहते हैं। ऐसे विचलित बद्धजीव अर्चाविग्रह के रूप में परब्रह्म की साकारता को नहीं पहचान सकते।

भगवान् का अर्चा अवतार उन भौतिकतावादी या नवदीक्षित भक्तों के लिए विशेष अभिव्यक्ति होती है, जो अभी तक भौतिक उपाधियों के प्रभाव के अन्तर्गत रहते हैं। वे भगवान् को उनके नित्य धाम में देख पाने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए भगवान् अर्चा-अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और प्रकाश अवतार तथा स्वयंप्रकाश अर्थात् अपने आदि रूप तक को प्रदर्शित करते हैं। प्रकाश अवतार इस जगत में विविध लीलाएँ प्रदर्शित करता है, जबकि स्वयंप्रकाश अर्थात् भगवान् का आदि रूप समस्त अवतारों का स्रोत है।

जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है, उसके समक्ष अर्चाविग्रह भगवान् के रूप में प्रकट होता है। जो लोग अत्यन्त अभागे हैं, वे भगवान् को उनके दयालु अर्चा के रूप में भी पहचान नहीं पाते। वे अर्चाविग्रह को सामान्य भौतिक वस्तु मानते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अर्चाविग्रह की पूजा करना सीख सकता है, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है और इस तरह भगवान् के साथ अपने भूले सम्बन्ध को पुनः जागृत कर लेता है। जो व्यक्ति ऐसी दिव्य अर्चा-पूजा को मूर्ति-पूजा के तुल्य मानता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा पूरी तरह प्रच्छन्न रहता है। आँखों में गुलाबी चश्मा पहनने वाले को सारी दुनिया गुलाबी दिखती है।

इसी तरह वे अभागे जीव, जो प्रकृति के गुणों से बुरी तरह प्रच्छन्न हैं, परमेश्वर समेत हर वस्तु को अपनी दूषित दृष्टि के कारण भौतिक रूप में देखते हैं।

साङ्गोपाङ्गं सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।

पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥

गन्धमाल्याक्षतस्त्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।

साङ्गसम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमोद्धरिम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स-अङ्ग—उनके दिव्य शरीर के अंगों सहित; उपाङ्गम्—तथा उनके विशिष्ट शारीरिक स्वरूप यथा उनका सुदर्शन चक्र तथा अन्य हथियार; स-पार्षदाम्—अपने निजी संगियों सहित; ताम् ताम्—उन उन; मूर्तिम्—अर्चाविग्रह; स्व-मन्त्रतः—अर्चाविग्रह के ही मंत्र द्वारा; पाद्य—चरण धोने के जल से; अर्घ्य—सत्कार के लिए सुगन्धित जल; आचमनीय—मुख धोने का जल; आद्यैः—इत्यादि से; स्नान—स्नान करने के लिए जल; वासः—उत्तम वस्त्र; विभूषणैः—गहनों से; गन्ध—सुगन्ध से; माल्य—गले का हार; अक्षत—चावल; स्त्रग्भिः—तथा फूलों की मालाओं से; धूप—धूप से; दीप—तथा दीपकों से; उपहारकैः—ऐसी भेंटें; स-अङ्गम्—सभी तरह से; सम्पूज्य—अच्छी तरह पूजा कर; विधिवत्—नियत विधानों के अनुसार; स्तवैः स्तुत्वा—स्तुतियों द्वारा अर्चाविग्रह का आदर करके; नमेत्—नमस्कार करे; हरिम्—भगवान् को।

मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह के दिव्य शरीर के प्रत्येक अंग के साथ साथ उनके आयुधों यथा सुदर्शन चक्र उनके अन्य शारीरिक स्वरूपों तथा उनके निजी संगियों की पूजा करे। वह भगवान् के इन दिव्य पक्षों में से हर एक की पूजा, उसके मंत्र तथा पाँव धोने के लिए जल, सुगन्धित जल, मुख धोने का जल, स्नान के लिए जल, उत्तम वस्त्र तथा आभूषण, सुगन्धित तेल, मूल्यवान हार, अक्षत, फूल-मालाओं, धूप तथा दीपों से करे। इस तरह बताये गये विधानों के अनुसार सभी तरह से पूजा करके मनुष्य को चाहिए कि भगवान् हरि के अर्चाविग्रह का आदर स्तुतियों से करे और झुक कर उन्हें नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि अक्षत का उपयोग अर्चाविग्रह को तिलक से विभूषित करने के लिए होता है, वास्तविक पूजा में नहीं। नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्—भगवान् विष्णु की पूजा अक्षत से और शिव की केतकी पुष्पों से पूजा नहीं करनी चाहिए।

आत्मान्तन्मयमध्यायन्मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।

शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; तत्—भगवान् में; मयम्—लीन; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मूर्तिम्—साकार रूप; सम्पूजयेत्—पूरी करह पूजे; हरेः—भगवान् हरि का; शेषाम्—पूजा का जूठन; आधाय—लेकर; शिरसा—अपने सिर पर; स्व-धाग्नि—अपने स्थान में; उद्गास्य—रह कर; सत्-कृतम्—आदरपूर्वक।

पूजा करने वाले को चाहिए कि अपने आपको भगवान् का नित्य दास मान कर ध्यान में पूर्णतया लीन हो जाय और इस तरह यह स्मरण करे कि अर्चाविग्रह उसके हृदय में भी स्थित है, अर्चाविग्रह की भलीभाँति पूजा करे। तत्पश्चात्, उसे अर्चाविग्रह के साज-सामान यथा बची हुई फूल-माला को अपने सिर पर धारण करे और आदरपूर्वक अर्चाविग्रह को उसके स्थान पर वापस रख कर पूजा का समापन करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तन्मयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति भगवान् के अर्चाविग्रह रूप की पूजा करके शुद्ध बनता है, वह यह समझ सकता है कि वह अर्थात् पूजक भगवान् का नित्य दास है और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् रूपी मूल अग्नि की छोटी चिनगी के समान है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—

विष्णोर्भृत्योऽहमित्येव सदा स्याद् भगवन्मयः ।

नैवाहं विष्णुरस्मीति विष्णुः सर्वेश्वरो ह्यजः ॥

“मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं विष्णु का नित्य दास हूँ और मैं उनसे एकाकार हूँ, क्योंकि मैं उनका नित्य भिन्नांश हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु नहीं हूँ, क्योंकि विष्णु तो हर वस्तु के परम नियन्ता हैं।”

अर्चापूजन का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य अपने को भगवान् का नित्य दास समझे। जो व्यक्ति यौन-तृप्ति का आदी है, और अपने को मूर्खतापूर्ण बाह्य भौतिक शरीर समझता है, वह अपने विषय में अपनी धारणा भोक्ता से भोक्त्य में नहीं बदल सकता। ऐसा व्यक्ति *तन्मयम्* का अर्थ यह लगाता है कि पूजक स्वयं भी पूज्य है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने अपने ग्रंथ *दुर्गा संगमनी* में जो श्रील रूप गोस्वामी प्रभु के ग्रंथ भक्तिरसामृत—सिंधु पर टीका है, लिखा है कि *अहंग्रहोपासना*—अर्थात् ब्रह्म रूप में अपनी पूजा करने की विधि अपने को नित्य-शरण-रूप ब्रह्म से एकाकार होने की निपट भ्रान्त पहचान है। षड् गोस्वामियों ने बारम्बार यह बात स्पष्ट की है। किन्तु *प्राकृत सहजिया* जाति में अज्ञानी लोग मायावादी दार्शनिकों के व्यर्थ के विचारों से प्रभावित होते हैं और इस भ्रान्त धारणा के शिकार

होते हैं कि पूजक परम आश्रय बन जाता है। ऐसा व्यामोह अपराध है। इसलिए इस श्लोक में आये तन्मय शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि पूजक अपने शाश्वत पूज्य पदार्थ के तुल्य बन जाता है।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।

यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; अग्नि—अग्नि; अर्क—सूर्य; तोय—जल; आदौ—इत्यादि में; अतिथौ—मेहमान में; हृदये—हृदय में; च—भी; यः—जो; यजति—पूजा करता है; ईश्वरम्—ईश्वर को; आत्मानम्—परमात्मा; अचिरात्—बिना विलम्ब किये; मुच्यते—छूट जाता है; हि—निस्सन्देह; सः—वह।

इस प्रकार भगवान् के पूजक को यह पहचान लेना चाहिए कि भगवान् सर्वव्यापक हैं और उन्हें अग्नि, सूर्य, जल तथा अन्य तत्त्वों में, घर में आये अतिथि के हृदय में तथा अपने ही हृदय में उपस्थित जान कर उनकी पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार पूजक को तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत “माया से मुक्ति” नामक तृतीय अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।